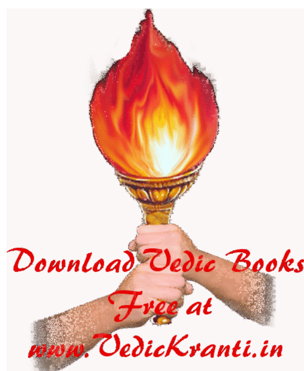
विद्यार्थी-जीवन रहस्य



नारायण स्वामी,



विद्यार्थी-जीवन-रहस्य

संघ

विद्यार्थियों तथा नवयुवकों
जीवन-निर्माण में सहायता
देने वाली पुस्तक।

लेखक—
महात्मा नारायण स्वामी जी,

द्वितीय संस्करण
२२००

सन् १९३७ ई०

सम्वत्
१९९४ वि०

प्रकाशकः—
वैदिक साहित्य प्रचारिणी सभा,
देहली ।



मुद्रकः—
आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री,
आर्य प्रिंटिंग प्रेस,
चर्खेवालान, देहली ।

वक्तव्य

वैदिक साहित्य प्रचारिणी सभा की ओर से 'विद्यार्थी-जीवन रहस्य' का द्वितीय संस्करण विद्यार्थी-समुदाय के समक्ष रखते हुये हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। इस संस्करण की दो मुख्य विशेषताएँ हैं। एक तो यह संशोधित और परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित हुआ है और इस प्रकार पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि हो गई है और दूसरे जनता के लिए अधिक से अधिक सुलभ और प्राप्य बनाने के उद्देश्य से इसके मूल्य में कमी करदी गई है।

सभा पर श्री स्वामी जी महाराज की जो अनुकम्पा है और जिन उपकारों से सभा उपकृत है उस पर प्रकाश डालने की यहां आवश्यकता नहीं है। हम केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि उनके ग्रन्थों के प्रकाशन से जिसका अलभ्य गौरव सभा को सदैव प्राप्त रहा है, सभा के गौरव में अमित वृद्धि हुई है और सभा सस्ते और सात्विक साहित्य के प्रचार के अपने उद्देश्य की पूर्ति एवं जनता की एकमात्र सेवा में समर्थ हुई है। इसके लिये हम विनीत भाव से पूज्य स्वामी जी महाराज के प्रति अपनी कृतज्ञता का प्रकाशन करते हैं।

श्री सेठ बैजनाथ जी भरथिया भिवानी निवासी (देहली-प्रवासी) का हम कम-आभार नहीं मानते हैं। सेठजी ने भी अपनी

आर्थिक सहायता और प्रोत्साहन के द्वारा सभा को उपकृत किया हुआ है। प्रस्तुत संस्करण उन्हीं की आर्थिक सहायता का परिणाम है। धन के इस सदुपयोग समाज-सेवा में इस बहु-मूल्य योग और विद्यार्थी जगत के प्रति हित-भावना के लिए उन्हें जितना साधुवाद दिया जाय उतना ही कम है।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्यार्थियों और नवयुवकों के जीवन-निर्माण की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की गई है। इस पुस्तक के अध्ययन से और इसमें बतलाई हुई बातों के आचरण से नवयुवक ऐसे ऐसे सुदृढ़ राजमार्ग पर पड़ सकते हैं जो उन्हें भावी जीवन में सफल मनोरथ बना सकता है। श्री स्वामी जी महाराज प्रायः विद्यार्थियों और नवयुवकों के सम्पर्क में आने को रखते हैं और उनकी वृत्तियों और समस्याओं का अध्ययन करते रहते हैं। गुरुकुल वृन्दावन के आचार्य पद पर निरन्तर कई वर्ष तक वे विद्यार्थियों के सम्पर्क में रह चुके हैं। यही कारण है यह पुस्तक केवल उनकी बुद्धि का चमत्कार नहीं है उसमें जीवन का अनुभव भरा हुआ है, इसीसे वह ओज और अनुभूति से परिपूर्ण है। यह पुस्तक जाति वर्ण धार्मिक भेदभाव से शून्य नवयुवकों के हाथ में रखने योग्य है। आर्य्यसमाज से बाहर भी विविध संस्थाओं ने विविध अवसरों पर इस पुस्तक को सर्वोत्तम साहित्य की कोटि में स्थान देकर इसे समादृत किया है। हमारे नवयुवक भाई इससे अधिक से अधिक

लाभ उठायेंगे और उनके हितैषी वन्धु उनके लिए लाभ प्राप्त करने की सुविधाएँ प्रस्तुत करेंगे इसी आशा और विश्वास के साथ आर्य्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रांत की स्वर्ण जयन्ती के पुनीत अवसर पर हम अपनी यह भेंट अपने नवयुवक समाज के समक्ष पेश करते हैं।

बलिदान भवन
देहली।
१६—११—१६३७

रघुनाथप्रसाद पाठक,

प्रस्तावना

मुझे जब भी प्रयाग, बनारस, आगरा आदि शिक्षा-केन्द्रों में जाने का अवसर मिला; और विद्यार्थियों के समक्ष ब्रह्मचर्य, चरित्रगठन आदि विषयों पर व्याख्यान देने का अवसर प्राप्त हुआ, सदैव व्याख्यान के बाद विद्यार्थियों ने प्रकट किया कि घर या बाहर इन विषयोंको कोई हमको शिक्षानहीं देता, इसलिये अनभिज्ञ होने से हम में से कई जब कुछ गलतियाँ कर डालते हैं तब पीछे से पछताना पड़ता है; इसलिये हम चाहते हैं कि विद्यार्थियों को पहले ही मालूम हो जाया करे कि किस समय उन्हें क्या करना चाहिये। विद्यार्थियों का उपर्युक्त कथन सर्वथा उचित है। यह दुःख की बात है कि इस समय नवयुवकों का घरेलू जीवन और वह जीवन जो स्कूलों और पाठशाला आदिकों से संबंध रखता है, अनियन्त्रित है; और इसीलिए अनेक अनिष्ट कार्य होते रहते हैं इसी बात को लक्ष्य में रखते हुये आगे के पृष्ठ लिखे गये हैं। जिनमें श्रेणीबद्ध शिक्षा Graded Course के ढंग से विद्यार्थी जीवन के किस भाग में क्या करना चाहिए अंकित किया गया है। व्यायाम और आसनों के संबंध में, अपने अनुभव के सिवा, अनेक योग्य डाक्टरों की सम्मति भी लेकर यह निश्चय किया गया है कि किस आयु में कौन आसन या व्यायाम उपयोगी होगा। इस बात की पूरी कोशिश की गई है कि पुस्तक विद्यार्थियों के लिए अधिक से अधिक उपयोगी हो।

रामगढ़, नैनीताल
जन्माष्टमी, १९९० वि०

नारायण स्वामी

दूसरे संस्करण की

भूमिका

मुझे प्रसन्नता है कि इस छोटे से ग्रंथ से विद्यार्थियों ने अधिक लाभ उठाया। यह मेरे लिए सन्तोष की बात है।

पुस्तक के इस संस्करण में अनेक उपयोगी और ऐसी बातें बढ़ाई गई हैं जिनसे विद्यार्थियों को लाभ हो सकता है। आशा है कि इससे भी लाभ उठाया जायगा।

बलिदान भवन,
देहली
फाल्गुण कृष्णा १
संवत १९९३ वि०

नारायण स्वामी

विषय सूची

पहला अध्याय

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

दूसरा अध्याय

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

तीसरा अध्याय

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

तीसरा सर्ग

चौथा अध्याय

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

तीसरा सर्ग

पांचवां अध्याय

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

तीसरा सर्ग

चौथा सर्ग

पांचवा सर्ग

ओ३म्

विद्यार्थी-जीवन-रहस्य



पहला अध्याय

पहला सर्ग

संसार में मनुष्य पुरुषार्थी बनकर उन्नत होने के लिए उत्पन्न होता है। संसार की कोई वस्तु

आरम्भ

नहीं जो गतिशील न हो। सूरज चलता है, पृथिवी चलती है, चन्द्रमा गति में है, कोई नक्षत्र नहीं जो ठहरा हुआ हो। संसरण-शील होने ही से जगत् संसार कहलाता है। इसमें बड़ी से बड़ी वस्तु सूर्य्य यदि गति में है तो छोटी से छोटी चीज़ परमाणु (Atom) विद्युत्कणों (Electron) के, उसके

भीतरी केन्द्र के चारों ओर परिभ्रमण करने से सूर्य्य-मंडल का एक विलक्षण उदाहरण बना हुआ है। फिर मनुष्य यहाँ किस प्रकार अकर्मण्य और आलसी बनकर जिन्दा रह सकता है? इसीलिए वेद में एक जगह कहा गया है कि "मनुष्य को कर्म (पुरुषार्थ) करते हुए ही १०० वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए, इसके सिवा दूसरा और कोई मार्ग (जिन्दा रहने का) नहीं है।१" फिर एक दूसरी जगह कहा गया है कि "मनुष्य को ऊपर चढ़ना चाहिए नीचे नहीं गिरना चाहिए।२" क्योंकि "नीचे गिरने। (अवनति) का मार्ग भयप्रद है।३" "यह अवनति का मार्ग तम=अंधकार का मार्ग है, इसमें नहीं गिरना चाहिए।४" इत्यादि—इसी प्रकार की एक कहावत है जो पश्चिमी देशों में भी प्रचलित है अर्थात् "प्राकृतिक नियम यह है कि उन्नति करो या नष्ट हो।५" अस्तु यह स्पष्ट है कि मनुष्य-जीवन पुरुषार्थमय होना चाहिए जिससे उसका प्रत्येक पग उन्नति की ओर पड़े—

(१) कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥ (यजुर्वेद ४०। २)

(२) उत्क्रामानः पुरुष मावपत्था॥ (अथर्ववेद ८। १। ४)

(३) एतं पन्थानमागाः। एषभीमः॥ (अथर्ववेद ८। १। १०)

(४) एतत् तमः मा प्रपत्थाः॥ (अथर्ववेद। ८। १। १०),

(५) Grow or die is the nature's motto.

उन्नति का तात्पर्य

उन्नति का भाव यह है कि मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और सामाजिक उन्नति हो। मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन किस प्रकार उन्नत हो सकता है, पहले यही बात विचारणीय है। मनुष्य दो वस्तुओं का संघात है:—(१) शरीर (२) आत्मा अर्थात् वह शक्ति जो शरीर का नियन्त्रण करती है। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न हैं। इन्हीं गुणों को क्रियात्मक रूप में परिवर्तन करने के लिए मनुष्य को शरीर मिला करता है। यह बाह्य शरीर दो प्रकार की इन्द्रियों का समुदाय होता है (१) ज्ञानेन्द्रिय (२) कर्मेन्द्रिय। इनमें से ज्ञानेन्द्रिय आत्मा के ज्ञान गुण और कर्मेन्द्रिय उसके प्रयत्न गुण को सार्थकता देने के लिये होते हैं। हमारे शरीर की बनावट ही, आत्मा के स्वाभाविक दो ही गुणों के होने का पुष्ट प्रमाण है।

समस्त शरीर के दो प्रकार के अवयव और उस के अन्तर्गत दो प्रकार ही के कार्य

बाह्य शरीर के साथ जब हम शरीर के भीतरी अवयवों पर भी दृष्टि-पात करते हैं तो प्रकट हो जाता है कि जहाँ बाह्य शरीर इन्द्रियमय है और मनुष्य के इच्छित कार्य्यों का साधन है, वहाँ उसके भीतरी अवयव हृदय, फेफड़ा, यकृत आदि उसके शरीर में होने वाले अनिच्छित कार्य्यों के साधन हैं। जो कार्य्य इरादा करके किये जाते हैं जैसे देखना, सुनना, खाना

पीना आदि उन्हें इन्द्रियों के द्वारा हुए इच्छित कार्य्य कहते हैं और जो कार्य्य बिना इरादा किये, शरीर के भीतर होते हैं जैसे भोजन का पाचन-कार्य्य, रक्त का परिभ्रमण आदि, ये शरीर के भीतरी अवयवों द्वारा हुए अनिच्छित काम कहे जाते हैं। व्यक्तिगत उन्नति का अर्थ अब स्पष्ट हो गया अर्थात् व्यक्तिगत उन्नति का अर्थ (१) शरीर के समस्त भीतरी और बाहरी अवयवों का पुष्ट होना (२) मन, बुद्धि, चित्त आदि समस्त अन्तःकरणों तथा आत्मा का शुद्ध और बलवान् होना है। अब इनके साधनों पर विचार करना चाहिये :—

उन्नति के साधन

१—शारीरिक उन्नति के साधन व्यायाम और प्राणायाम हैं। इनमें से व्यायाम में (अ) सभी प्रकार की वरज़िश और (ब) आसन सम्मिलित हैं और प्राणायाम में (स) दौड़ना (द) गहरे श्वास लेना तथा (ह) श्वास-सबंधी सभी क्रियाओं का समावेश है—

२—मानसिक उन्नति के साधन (१) यम (२)

१—यम ५ योग्यताओं का नाम है :—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय = चोरी न करना (४) ब्रह्मचर्य्य और (५) अपरिग्रह = लालच न करना—

अहिंसा सत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्य्याऽपरिग्रहा यमाः।

(योग दर्शन २। ३०)

नियम२ और (३) प्राणायाम हैं—

इन दोनों प्रकार के साधनों को काम में लाने का उद्देश यह है कि शरीर, अन्तःकरण और आत्मा जिस जिस कार्य के लिये हैं उन्हें अपने-अपने कार्यों के करने और कर सकने की अधिक से अधिक योग्यता प्राप्त हो जावे। ये साधन किस प्रकार काम में लाये जावें इनका वर्णन आगे किया जायगा।

दूसरा सर्ग

वर्तमान काल में विद्यार्थी-जीवन २४ वर्ष तक समझा जा सकता है१। यही समय है जिसमें शरीर के समस्त अवयवों की वृद्धि होती

विद्यार्थी-जीवन

२—नियम भी ५ ही हैं:—(१) शौच (२) सन्तोष (३) तप (४) स्वाध्याय और (५) ईश्वर प्रणिधान = निष्काम भावना से कर्म करते हुए उन्हें ईश्वरार्पण करना—

शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

(योग दर्शन २ । ३२ ।)

(१) प्राचीन काल में विद्यार्थी-जीवन ४८ वर्ष तक में पूरा होता था। जो विद्यार्थी ब्रह्मचर्य्य के नियमों का पालन करते हुये २४ वर्ष तक अध्ययन करता था वह वसु; जो ३६ वर्ष तक अध्ययन करता था, रुद्र और जो ४८ वर्ष तक अध्ययन करता था आदित्य ब्रह्मचारी कहलाता था।

है२। तीसरे वर्ष से बालक इस योग्य हो जाता है कि उसे शिक्षा दी जा सके, परन्तु इस देश में यह आयु बालक के माता-पिता की गोद ही में व्यतीत करने की समझी जाती है, इसलिए प्रायः चौथे वर्ष तक की शिक्षा और दीक्षा का उत्तरदायित्व माता और पिता पर ही रहता है। ५ वें वर्ष से बालक गुरु के अधीन किया जाता या किया जा सकता है। योरुप और अमरीका में तो २ वर्ष से लेकर ५ वें वर्ष तक के बालक, बालकों३ के स्कूलों में ही रक्खे जाते हैं, और उन विद्यालयों में

(२) चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। आषोडशाद्वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता। ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति॥

(सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ३५)

अर्थात् शरीर की ४ अवस्थायें हैं:—(१) वृद्धि जो सोलहवें वर्ष से (२) यौवन जो २५ वें से प्रारंभ होती है। (३) सम्पूर्णता जो ४० वर्ष पूर्ण हो जाने पर होती है और (४) किंचित् परिहाणि—जो इसके बाद से अन्त तक रहती है।

(३) इन स्कूलों को नरसरी स्कूल (Nursery School) कहते हैं। अमरीका में एक (Nursery University) भी है जिसमें शिक्षा देते समय बालकों की प्रवृत्ति मालूम करके उन्हें उसी के अनुरूप कार्यों में लगाया जाता है जिसमें अधिकतर सफलता होती है।

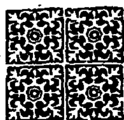
न केवल उन्हें मौखिक आचार संबंधी शिक्षा दी जाती है बल्कि यदि उनके अंगोपांगों में कोई त्रुटि भी होती है जैसे बालकों का हकलाना अथवा हाथ पाँव की बनावट में किसी त्रुट का हो जाना इत्यादि, तो उन्हें भी दूर किया जाता है और बतलाया जाता है कि लगभग ६० प्रति शतक सफलता, ऐसी अवस्थाओं में ऐसे स्कूलों के संचालकों को होती है।

अस्तु, अब प्रश्न यह है कि आरंभ से लेकर २४ वर्ष की आयु का समय-विभाग किस प्रकार का होना चाहिये, जिससे अपेक्षित शक्ति-संपन्नता बालकों में आजावे। यह समय-विभाग और उसमें किये जानेवाले कार्य, प्रारंभ से अन्त तक एक नहीं हो सकते। उनमें आयु के भेद होने से, क्रमशः भेद होता चला जाता है। आयु का भेद होने के कारण बालकों की यह अवस्था कई भागों में विभक्त की गई है। जिसका विवरण इस प्रकार है:—

अवस्था-भेद

बालकों की २४ वर्ष तक की आयु चार भागों में विभक्त है:—(१) शैशवावस्था (२) बाल्यवस्था (३) किशोरावस्था (४) युवावस्था। इनमें से प्रत्येक अवस्था का कार्यक्रम, शारीरिक, मानसिक और सामाजिक उन्नति की दृष्टि से पृथक् पृथक् है। उस कार्यक्रम में जिन-जिन बातों का समावेश होगा

उनकी उपयोगिता का संक्षिप्त सा विवरण भी उन्हीं कार्य-क्रमों के साथ दिया जायगा। उस कार्य-क्रम से बाहर कुछेक बातें ऐसी हैं, जिनकी उपयोगिता सब के लिये एक जैसी है, इसलिये पहले उन्हीं साझे की बातों का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है।



दूसरा अध्याय

पहला सर्ग

वे साझे की बातें दो प्रकार की हैं। एक तो ऐसी हैं जिन्हें नियम से प्रति दिन कार्य में परिणत करनी चाहिये। दूसरी ऐसी हैं जिन्हें सदैव ध्यान में रखना चाहिए और जरूरत होने पर काम में लाना चाहिए। इनमें से पहले प्रकार की बातें पहले लिखी जाती हैं:—

आवश्यक और दैनिक कर्त्तव्य

(१) समय पर सोना, समय पर उठना

दिन समाप्त हो जाने पर सन्ध्या काल के उपरान्त जो समय होता है वह प्रायः ८ से १० बजे तक समझा जाता है, उसकी अपेक्षा प्रातःकाल का ३ से ५ बजे तक का समय अधिक उपयोगी हुआ करता है। कारण स्पष्ट है, रात का समय दिन भर की थकावट के और प्रातःकाल का समय रात भर के आराम के बाद का समय हुआ करता है। इसलिए रात्रि में आम तौर पर ८ और ९ बजे के मध्य

सो जाना और प्रातःकाल ३ और ४ के मध्य उठ बैठना चाहिए।[१] शिशु और बाल्यवस्था वालों के सिवा किशोर और युवकों के लिये सात-आठ घंटा तक सोना काफ़ी है। प्रातःकाल सूर्योदय से पहले समस्त कार्यों से निवृत होकर सूर्योदय के ठीक समय सन्ध्या और प्राणायाम करते हुये, उदय होते हुये सूर्य की किरणों को अपनी खुली हुई छाती पर लेना चाहिये, इससे फेफड़े पुष्ट होते हैं और हृदय बलवान होता है। वेद में एक जगह एक वीर पुरुष के मुंह से कहलवाया गया है[२] कि वह किस प्रकार अपने सम्मुख आये हुये शत्रु के तेज को हर लिया करता है जैसे उदय होता हुआ सूर्य सोने वालों के तेज को हर लिया करता है। अतः स्पष्ट है कि स्वस्थ रहने के लिये प्रातःकाल का उठना अत्यन्त उपयोगी है। आम तौर से विद्यार्थी-जीवन में शैशवावस्था से लेकर युवावस्था पर्यन्त तख्त पर सोने का अभ्यास रखना चाहिये और विशेषावस्थाओं को छोड़ कर अधिक गुदगुदे बिस्तरे पर कभी नहीं सोना चाहिये। ये दोनों बातें ब्रह्मचर्य की साधक हैं। अन्त की तीनों अवस्था वालों को सदैव पृथक् पृथक् सोना चाहिए; परन्तु एकान्त में अथवा दो दो को मिलकर एक एक जगह कदापि नहीं

(१) Early to bed and early to rise makes a man healthy wealthy and wise.

(२) उद्यन्त सूर्य इव सुप्तानां द्विषतांवर्च आददे ॥ (अथर्ववेद)

सोना चाहिए।

यह अभ्यास बना लेना चाहिए कि जिस वक्त उठने के समय आंख खुले तो उसी समय बिस्तरा छोड़ कर उठ बैठना चाहिए। पड़े-पड़े इधर उधर की बातें सोचने से चित्त चंचल हो उठता है और अनेक बुराइयों की ओर जाने लगता है। इसी प्रकार जब सोने के लिये लेटे तब लेटते ही सो जाना चाहिए। तख्त से उठते ही शौच जाना चाहिए। शौच नियम से दिन में दो बार प्रातः और सायंकाल जाना चाहिए।

(२) मलत्याग

यदि कुछ क़ब्ज़ रहता है तो रात्रि में सोते समय तांबे के पात्र में पानी भर कर रख देना चाहिए, और प्रातःकाल उठते ही पीकर कुछ टहलना और उसके बाद शौच आदि जाना अच्छा होता है। सभी आयु वाले विद्यार्थियों के लिये शौच के साथ ही दो काम कर लेने चाहिएँ :—

शौच से पहले पानी पीना

(१) मूत्रेन्द्रिय के सिरे की त्वचा को उलट कर देखना चाहिये कि भीतर का अँग बिलकुल साफ़ है या एक प्रकार की सफ़ेद वस्तु उस पर इधर-उधर जमी हुई है। यदि जमी हो तो उसे छुटा कर पानी से धोकर उस अंग को साफ़ कर देना चाहिए, अन्यथा। यह वस्तु जब भीतर अधिक

दो आवश्यक कर्तव्य

एकत्रित हो जाती है तो खुजली पैदा करती है और स्वाभाविक रीति से उसे खुजलाना पड़ता है और यहीं से खराबी पैदा होकर यह क्रिया अनेक बुरी आदतों का कारण बनती है। (२) दूसरा काम यह करना चाहिये कि बहुत पतली ठंडे पानी की धार मूत्रेन्द्रिय के सिरे के भीतरी भाग में ठीक छिद्र के ऊपर डालनी चाहिए। एक दो मिनट तक इस धार का डालना उपयोगी होगा और धार डालने के बाद समस्त मूत्रेन्द्रिय और अंडकोशों को अच्छी तरह ठंडे पानी से तर कर देना चाहिए। यह काम स्नान के समय भी किया जा सकता है। जहाँ सुभीता हो करना चाहिए। शौच के लिये अथवा उपर्युक्त मूत्रेन्द्रिय-स्नान के लिये गर्म पानी कदापि काम में नहीं लाना चाहिए।

(३) दाँतों की सफ़ाई

दाँतों को साफ़ और मल-रहित रखना अत्यन्तावश्यक है। इसके लिये ३ काम करने आवश्यक हैं:—(१) दातुन (२) मंजन (३) तेल, इनकी विधि इस प्रकार है:—

दातुन और उसकी प्रयोग-विधि

सबसे अधिक लाभदायक दातुन मौलसरी की होती है। उसके न मिलने पर बबूल की करनी चाहिए। वह भी न मिले तो नीम की दातुन भी कृमि-नाशक होने से उपयोगी समझी जाती है। दातुन को दोनों डाढ़ों से बारी-बारी आहिस्ते आहिस्ते कुचल कर, कूची बना लेनी चाहिए। कूची बन जाने

पर उसे पानी से साफ़ करके उससे समस्त डाढ़ और दाँतों को धीरे-धीरे परन्तु अच्छी तरह से रगड़-रगड़ कर साफ़ करना चाहिए और मसूड़ों को भी इसी प्रकार से दबा-दबाकर रगड़ना चाहिए जिससे वे दब तो खूब जावें; परन्तु रगड़ से छिलने न पावें इस क्रिया में शुरू से अन्त तक मुँह से जो राल निकले उसे मुँह नीचा करके गिराते रहना चाहिए जिससे वादी और ख़राब मादा सब निकल जावे। दाँतों को दातुन से रगड़ते समय प्रत्येक दाँत को नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे भी रगड़ना चाहिये जिससे कोई विजातीय द्रव्य उनके मध्य में बाकी न रहे। उसके बाद दातुन को चीर कर उससे जुबान को खूब साफ़ करे। इस प्रकार दातुन करके पानी से, अच्छी तरह, मुँह, दांत और जुबान साफ़ कर डाले।

मंजन की प्रयोग-विधि

विदेशों से दांतों को सफ़ाई के लिये अनेक प्रकार के सूखे (Dental Powder) और गीले (Tooth Paste) मंजन आते हैं। मँहगे होने के सिवा उनकी उपयोगिता और शुद्धता भी संदिग्ध ही होती है; इसलिए उनका इस्तेमाल न करके एक मंजन स्वयं बना लेना चाहिए। इस मंजन में तीनों प्रकार की औषधियाँ हैं:—दाँतों को साफ़ और दृढ़ बनाने और कृमि-नाश करने वाली। मंजन का नुसख़ा यह है:—

(१) रूमी मस्तगी (खूब साफ़ करके बारीक पिसी हुई) १ तोला

(२) मौलसरी की छाल (बारीक पिसी हुई)		१ तोला
(३) मजीठ (बारीक पिसा हुआ)		१ तोला
(४) माजूफल	(बारीक पिसा हुआ)	१ ,,
(५) कपूर	,, ,, ,,	१ माशा
(६) अजवायन का सत	,, ,, ,,	आधा माशा
(७) तूतिया भुना	बारीक पिसा हुआ	१ चना भर
(८) फिटकरी भुनी	बारीक पिसी हुई	१ माशा
(९) सेंधा नमक	बारीक पिसा हुआ	१ तोला

यथा सँभव बारीक पीसना चाहिए। सब को मिला देने से मंजन तैयार हो जाता है। यह मंजन किसी एक शीशे के पात्र में मुँह बन्द करके रखना चाहिए—इस मंजन के प्रयोग का सबसे अच्छा समय रात्रि का वह समय है जब खाने-पीने का सब काम समाप्त हो जाता है। इसे दांतों में भीतर और बाहर दोनों ओर लगा कर अच्छी तरह से राल निकलने देना चाहिए। जब राल निकल जावे तब कुल्ला करके सो जाना चाहिए इससे इसका प्रभाव दांतों में रात भर रहता है। प्रातःकाल उठकर अच्छी तरह कुल्ला करके मुँह साफ़ कर लेना चाहिए।

तेल की प्रयोग-विधि

शुद्ध तिल या सरसों के तेल में अच्छा बारीक पिसा हुआ सेंधा नमक मिला कर रख लेना चाहिए। प्रातःकाल कुल्ला-दातुन आदि से निवृत्त होने पर यदि कुछ खाने-पीने का अभ्यास हो तो खा-पीकर और मुँह साफ़ करके इस

नमक मिले तेल को अँगुली से दाँतों और डाढ़ों में भीतर-बाहर सब ओर से लगाकर मल दो और एक दो मिनट तक उस तेल को जो दाँतों से छूट कर राल के साथ मुँह में जमा होता है मुँह के प्रत्येक भीतरी भाग में घुमा-फिराकर निकाल दो।

इन तीन विधियों से दांत साफ़, दृढ़ और नीरोग रहते हैं। एक बात यह भी इसीके साथ याद रखनी चाहिए कि जब भी कुछ भोजनादि करे तो उसके बाद दांतों को सदैव साफ़ कर लेना चाहिए जिससे भोजन का कोई ज़र्रा दांतों के बीच में या दांतों से लगा हुआ बाकी न रहे अन्यथा इस प्रकार से दांतों में लगे रहे हुए ज़र्रे दांत-सम्बन्धी अनेक रोगों की उत्पत्ति के कारण होते हैं।

शरीर को स्नान द्वारा शुद्ध रखना अत्यन्त आवश्यक है।

स्नान

शरीर के आन्तरिक कार्य-बाहुल्य से, शरीर में प्रतिक्षण मल उत्पन्न होता रहता है। मल-मूत्र आदि द्वारों से मल निकलता रहता है। इनके सिवा शरीर के त्वचा-छिद्रों (रोमकूपों=मसाम, (Pores) से, प्रतिक्षण पसीने आदि के रूप में मल निकलता रहता है। पसीना-मिश्रित मल में से उसका जलीय-भाग भाप बनकर उड़ जाता है परन्तु मल-भाग (uric acid) छिद्रों के मुँह पर जमा रह जाता है और छिद्रों के मुँह को बन्द कर देता है जिससे शरीरान्तर्गत बना हुआ नया मल नहीं निकलने पाता

और शरीर के भीतर जमा होकर अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण बन जाता है। स्नान करते समय शरीर को अच्छी तरह मलने और स्नान के बाद किसी खुरदरे वस्त्र से शरीर को रगड़-रगड़कर पोंछने से वह एकत्रित और जमा हुआ मल त्वचा-छिद्रों के मुँह से दूर होकर उन्हें साफ़ कर देता है जिससे नया उत्पन्न हुआ मल शरीर से निकलता रहता है। अतः स्नान का अनिवार्य होना स्पष्ट है। स्नान यथासंभव ताजे और ठंडे जल से करना अच्छा है।

मालिश

कभी-कभी स्नान से पहले तेल शरीर पर मल लेना भी अच्छा हुआ करता है। यह तेल, त्वचा-छिद्रों के मार्ग से शरीर के भीतर जाकर, शरीर के निर्माता प्राकृतिक कोशों (cells) को पुष्ट करता है और त्वचा की भी पुष्टि करता है। मलने के लिये मीठा या कडुआ (तिल या सरसों का) तेल ही उपयोगी होता है। पांव के अगूठों की मोटी नसों का संबंध जननेन्द्रिय से है। इन नसों के दबने से जननेन्द्रिय में अनावश्यक उत्तेजना नहीं उठती। इसके लिये दो बातें काम में लाई जाती हैं (१) खूंटीदार खड़ाउओं का पहनना। स्नान और यथा संभव घर में अन्य अवसरों पर इन खूंटीवाले खड़ाउओं के पहनने का अभ्यास करना ब्रह्मचर्य का साधक होता है। (२) स्नान के समय पांव की, प्रायः सभी उँगलियों के बीच के भाग को, हाथ के अँगूठों से एक दो मिनट तक मलना

एक और आवश्यक कार्य

उपयोगी होता है। इससे भी सं० १ में वर्णित आवश्यकता की पूर्ति होती है। लंगोट का भी नियम से पहनना आवश्यक है।

दूसरा सर्ग

भोजन

भोजन के सम्बन्ध में सबसे पहली बात, जो समझ लेनें की है, वह यह है कि भोजन उद्देश नहीं है; किन्तु उद्देश-पूर्ति का एक साधन है, जिसे तीसरी श्रेणी का साधन कहते हैं। उद्देश शारीरिक और मानसिक उन्नति है, उसी का एक साधन भोजन है। इसलिए भोजन ऐसा होना चाहिए जिससे शारीरिक और मानसिक उन्नति हो सके। जो लोग स्वाद लेने के लिए ही भोजन करते हैं उन्हें समझ लेना चाहिए कि वे सीधे मार्ग से भटके हुए हैं। ऐसे लोगों को एडिसन की बात याद कर लेनी चाहिए जो उसने १००-वर्ष तक जिन्दा रहने के साधनों पर विचार करते हुए कही थी। उसका कथन है कि "यदि तुम अपनी जुबान पर अधिकार कर लो तो तुम अपने समस्त शरीर और मस्तिष्क पर सुगमता से अधिकार कर सकते हो।[1]"

सात्विक भोजन

अस्तु भोजन सादा और सात्विक होना चाहिए। सादा, उत्तेजना-शून्य और निरामिष भोजन ही को सात्विक भोजन कहते हैं। शरीर में ५ प्रकार के पदार्थ होते हैं इन्हीं की वृद्धि के लिये भोजन

(१) एडिसन के शब्द ये हैं:—If you can conquer your tongue only you are sure to conquer your whole body and mind at ease.

किया जाता है। इसलिए भोजन के भी यही पांच अंग समझे जाते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है :—(१) प्रोटीन (२) चरबी (३) कर्बोज (४) लवण (५) जल इनमें से (१) प्रोटीन (Protein) (१) कार्बन (५० भाग) (२) ऑक्सीजन (२२ भाग) (३) नैट्रोजन (१६ भाग) हैड्रोजन (७ भाग) और गंधक (१ भाग) से मिलकर बनती है—

भोजन के अंग

(२) चरबी (Fat) (१) कार्बन, (२) ऑक्सीजन और (३) हैड्रोजन से बनती है (३) कर्बोज (Starchy Matter) (१) शकर (Sugar) (२) शर्कराजनक (Glycogen) (३) श्वेतसार=मांड (Starch) और (४) काष्ठोज=लकड़ी या शाकों का सार (Cellulose) से बनता है—

शरीर का मुख्य भाग मांस, जो शरीर में ४२ परशतक होता है, प्रोटीन से बना करता है। इसी प्रोटीन से शरीर के निर्माता कोश (Cells) भी बनते हैं। चरबी और करबोज शक्ति पैदा किया करती हैं। लवण से हड्डियाँ मजबूत होती हैं—इसी उद्देश के लिये भोजन किया जाता है। अब यहाँ एक सूची दी जाती है जिससे जाना जा सके कि किन-किन वस्तुओं में उपर्युक्त पाँच पदार्थ, किस-किस मात्रा में हैं :—

संख्या	नाम पदार्थ	प्रोटीन	चरबी	कर्बोज	खनिजपदार्थ	जल[1]
१.	गेहूँ	११.४७	२.०४	७०.६०	३.१४	११.८३
२.	गेहूँ का आटा	१०.७	१.१	७५.४	०.५	+
३.	गेहूँ का मैदा	७.६	१.४	७६.४	०.५	+
४.	चोकर	१६.४	१५	४३.६	६.	१२.५
५.	मसूर की दाल	२५.४७	३.०	५५.०३	+	+
६.	मूंग ,,	२३.६२	२.६६	५३.४५	+	+
७.	उर्द ,,	२२.३३	१.६५	५५.२२	+	+
८.	अरहर,,	२१.७०	२.५०	५४.०६	+	+
६.	बादाम	२४.००	५४.०	१०.०	३.०	६.०
१०.	मूंगफली	२७.५	४४.५	१५.७	२.५	७.५
११.	गाय का दूध	३.५	४.०	३.५	०.७५	८७.२५
१२.	भैंस ,,	६.११	७.४५	४.१७	०.८७	८१.४०
१३.	माँस बकरे का	१८.०	५.०	+	१.०	७६.०
१४.	,, गाय-बैल	२०.०	१.५	०.६	१.२	७६.७
१५.	,, मुर्ग़ का	२२.७	४.१	१.३	१.१	७०.४
१६.	अंडे की जरदी	१६.१२	३१.३६	+	१.०१	५१.३

(१) Sotter & Firth's theory & practice of hygien (1908)

उपर्युक्त तालिका से मांसाहार की अनुपयोगिता प्रमाणित होती है और यह भी कि भोजन में, इन पदार्थों में से ऐसे पदार्थ शामिल करने चाहियें जिससे भोजन की गरज पूरी हो सके। मांसाहार के संबंध में एमरीकन डाक्टर केलोग ने परीक्षणों के आधार पर प्रमाणित किया है कि मांस स्वाभाविक भोजन शेर भेड़िये आदि दरन्दे पशुओं का भी नहीं है। उसने एक से अधिक चार शेर भेड़िये आदि के नव जात बच्चों को लेकर परवरिश की उन्हें प्रथम दूध पिलाता रहा उसके बाद दांत निकलने पर चारा तथा अन्नादि जैसे गाय बैलों को दिया जाता है, खिलाना शुरू किया—जवान होने पर अब जब उनके सामने मांस डाला गया तो उन्होंने गाय आदि की तरह अपना मुंह उससे हटा लिया।

केलोग का कहना है कि दरन्दे जानवरों के बच्चे, बचपन ही से, अपने माता पिता को पशुओं के मारने और मारकर उनके खाने की प्रक्रिया को देखा करते हैं और देखते देखते उनकी भी वैसी ही आदत बन जाया करती है। जब उन्हें ऐसा देखने का अवसर नहीं दिया जाता तो उनकी ऐसी आदत नहीं बनने पाती। (१)

(२) अभी हाल (१६३६ ई० के अन्त) में एक साधू एक जवान शेर और कुत्ते को लेकर देहली आया था, उन्हें यहां सबने देखा, शेर को वह दूध पिलाया करता था उसने दरन्दा-

पन छोड़ा हुआ था। उसके पास जाने से यहां कोई नहीं डरता था। मिठाई की अपेक्षा फलों का इस्तेमाल उपयोगी है।

भोजन से सम्बन्धित कुछ आवश्यक बातें

भोजन के सम्बन्ध में कुछेक आवश्यक बातें ध्यान देने योग्य हैं:—(१) भोजन में सबजी (हरे शाक) की मात्रा अधिक होनी चाहिये और यथा-संभव मसाले कम होने चाहियें, (२) खटाई की अधिकता बहुत हानिकारक है। इससे राल निकालने वाली ग्रंथियों के मुंह संकुचित हो जाते हैं और इस प्रकार राल के कम निकलने या न निकलने से भोजन की पाचन-क्रिया में बाधा पहुँचती है।

(३) भोजन नियत समय पर प्रसन्नता के साथ, जल्दी न करके, दाँतों से खूब कुचल-कुचलकर खाना चाहिये। जितना भोजन अधिक चबाया जायगा उतनी ही अधिक राल निकलेगी और जितनी ही अधिक राल निकलकर चबाये हुए भोजन में मिलेगी उतना ही शीघ्र भोजन पचेगा। भोजन के बाद ३ घंटे तक कुछ नहीं खाना चाहिये।

(४) ईर्ष्या द्वेष, क्रोध-भयादि के भावों को रखते हुए अथवा भोजन को बुरा समझते हुए जो भोजन किया जाता है वह कभी नहीं पचता। उससे मन्दाग्नि आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। भोजन के अन्त में जलपान सर्वथा हेय है। यदि शाकादि

(१) देखो Man the master piece by Dr. Kellog.

पानी

में रसा न हो तो थोड़ा पानी भोजन के मध्य में पी लेना चाहिए अन्यथा सबसे अच्छा समय पानी पीने का, भोजन के बाद पहले और दूसरे घंटे के बीच का होता है परन्तु आम तौर से पानी पीने में कमी नहीं करनी चाहिए। अधिकतर क़ब्ज़ जल के कम पीने से हुआ करता है। एक दिन में एक स्वस्थ युवा पुरुष को, ऋतुओं के लिहाज़ से, दो से तीन सेर तक पानी पीना चाहिए। रात्रि में सोते समय और भोजन से एक घंटा पहले भी पानी पीना उपयोगी होता है। यदि इस पर दस्त न हो और क़ब्ज़ कुछ तकलीफ़ ही देता रहे तो आधा सेर पानी गर्म करके उसमें चाय के (छोटे) चम्मच भर पिसा हुआ सेंधा नमक डाल कर पी लेना चाहिए और चित्त लेटकर नाभि के चारों ओर पेट को मलने से दर्द जाता रहता है और दस्त हो जाता है।

रालग्रंथि
Salivary gland

संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं (१) एक वे जिनके दांत हों (२) दूसरे वे जिनके दांत नहीं जैसे चिड़िया आदि। जिनके दांत नहीं हैं उनके पेट में एक प्रकार की पथरी (Gizzerd) रक्खी गई है जिससे वे उन से दाँतों का काम लेकर भोजन को पीस लेते हैं। मनुष्य दाँत रखता है इसलिए उसके पेट में यह पथरी नहीं होती। दाँतों के सिवा मुंह के भीतर ६ राल ग्रंथियाँ हैं जिनमें से चार तो जिह्वा और जबड़े

के नीचे और दो गले में होती हैं। जब भोजन चबा कर किया जाता है तब इन ग्रंथियों में से राल (लार) निकलने लगती है और भोजन से मिलकर उसे पचने योग्य बना देती है। इसीलिए भोजन को खूब चबा-चबाकर खाने का विधान है।

सादगी से रहना

सादगी से रहना स्वयमेव एक श्रेष्ठ गुण है। भारतीय सभ्यता का आदर्श सादगी से रहना और उच्च विचार रखना (Plain living and high thinking) है। जो विद्यार्थी बनाव-चुनाव के साथ माँग पट्टी रखते हुए शृङ्गार-प्रिय होते हैं उनमें से प्रायः सौ में ९९ अब्रह्मचारी होते हैं। ब्रह्मचर्य के लिए सादगी से रहना आवश्यक है। सादगी के साथ रहना ही एक महत्व की बात (Simpleness is itself greatness) है। इसलिये सभी श्रेणी के विद्यार्थियों को इस गुण को अपनाना चाहिये।

समय-विभाग और डायरी

निपोलियन ने आस्टरिया पर चढ़ाई की। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। निपोलियन की नई सेना सहायता के लिए आ गई; परन्तु आस्टरिया की नई सेना के आने में ५ मिनट की देर हो गई। फलस्वरूप आस्टरिया की हार हो गई। निपोलियन ने उस समय अभिमान से कहा कि आस्टरिया के लोग ५ मिनट का मूल्य नहीं जानते थे। जीवन

का प्रत्येक क्षण बड़ा मूल्यवान् होता है। उससे लाभ उठाने के लिए आवश्यक है कि समय-विभाग बनाकर ऋतुचर्या और दिनचर्या उसीके अनुकूल रक्खे और जो कुछ करे सत्यता से उसे डायरी में लिखता रहे। समय-समय पर उसे देखकर अपनी त्रुटियों और भूलों पर पश्चाताप करता रहे जिससे वे भूलें फिर दुहराई न जा सकें। इस समय-विभाग के सदैव अनुकूल कार्य करने से मनुष्य की आयु बढ़ती है और वह संसार में अधिक से अधिक कार्य करता है।

स्वाध्याय

स्वाध्याय-शीलता श्रेष्ठ गुण है। यदि आदमी रोज़ाना एक घंटा स्वाध्याय करे तो अनुभव के आधार से कहा जा सकता है कि वह एक घंटे में २० पृष्ठ पढ़ सकता है और वर्ष में १८ जिल्दें चार-चार सौ पृष्ठ के ग्रंथों की समाप्त कर सकता है—चार्ल्स सी० फ्रौस्ट (Charles C. Frost) नाम का एक विद्यार्थी अमरीका की एक यूनीवर्सिटी में पढ़ता था। माता-पिता की सहायता न रहने से उसे यूनिवर्सिटी छोड़नी पड़ी। उसने वरमौंट (Vermont) अपने निवास स्थान पर जाकर जूते बनाने का पेशा किया परन्तु अपने रुचिकर विषय गणित के अभ्यास और अध्ययन के लिये दैनिक एक घंटे का समय अपने समय विभाग में रखकर उसी के अनुसार कार्य करना शुरू किया। कुछेक वर्षों ही में वह अमरीका का एक प्रसिद्ध

गणितज्ञ बन गया। स्वाध्याय से साधारण ज्ञान की वृद्धि होती है। मनुष्य कूप-मंडूकवत् नहीं रहता। अनेक विद्यायें उसे आ जाती हैं और ग्रन्थों के द्वारा जमाने की नीच-ऊँच गर्म-सर्द का उसे ज्ञान हो जाता है। उन से उसके चरित्र पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और उसकी संगत का सुधार होता है। ब्रह्मचर्य के लिये स्वाध्याय-शीलता अनिवार्य है।

खाली न रहना.

आलस्य और प्रमाद मनुष्य के लिये घातक हैं। बुरे विचार उसी समय उसके दिल में आते हैं जब वह खाली रहा करता है। कहावत है कि खाली मन शैतान का कारखाना (Empty mind devils workshop) होता है—विद्यार्थी को पढ़ने-लिखने, खेलने आदि किसी न किसी काम में अपने को लगाये रखना चाहिये जिससे उसका मन चंचल न हो। परन्तु यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि निकम्मे ग्रंथों और अश्लील नाविल नाटकों का पढ़ना स्वाध्याय नहीं है और न चौसर ताश आदि के खेलों में लगे रहने की कोई उपयोगिता है।

तीसरा अध्याय

पहला सर्ग

पुराने ज़माने में विद्यार्थी-जीवन का नाम ब्रह्मचर्याश्रम था। अर्थात् जो विद्यार्थी है उसे ब्रह्मचारी होना चाहिये और जो ब्रह्मचारी है उसे विद्यार्थी। परन्तु वर्तमान सभ्यता और देश में वाल विवाह के प्रचार से यह सुनहरी नियम प्रचलित नहीं रहा। परन्तु यदि जाति के वालकों को अच्छे और पुष्ट शरीर और मस्तिष्क वाला वनाना इष्ट हो जैसा कि होना चाहिए तो उपर्युक्त नियम पुनः प्रचलित करना पड़ेगा। अर्थात् २४ वर्ष तक युवकों के विवाह की वात सोचनी भी नहीं चाहिए।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारी दो शब्दों से मिलकर वनता है। ब्रह्म+चारी। वृह धातु से ब्रह्म वनता है। वृह के अर्थ वढ़ना, वृद्धि करना, उन्नति करना, प्रगति; विकास और व्यापना। इन्हीं अर्थों के आधार से ब्रह्म शब्द के अर्थ ईश्वर, वड़ा, वेद, विद्वान्, अध्ययन आदि

ब्रह्मचारी

के हैं। चारी का अर्थ है चलनेवाला। ब्रह्मचारी में आये ब्रह्म के अर्थ वृद्धि या विकास और अध्ययन के हैं अर्थात् ब्रह्मचारी वह है जो अपने शरीरादि की वृद्धि करता हुआ विद्या का अध्ययन करे अर्थात् शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की उन्नति करे।

शारीरिकोन्नति

शारीरिकोन्नति का भाव यह है कि शरीर में उत्पन्न हुए रक्तादि सुरक्षित रहते हुए वृद्धि करें जिससे शरीर पुष्ट हो। शरीर के पुष्ट होने का अभिप्राय यह है कि शरीर का अंग प्रत्यंग जितना शरीर की ऊंचाई की दृष्टि से उन्हें बढ़ना चाहिये, वे बढ़ें। आगे एक चित्र दिया जाता है जिससे युवकों को मालूम हो सकेगा कि उनके शरीरों की ऊंचाई की दृष्टि से उनका वजन क्या होना चाहिये और उनकी छाती आदि की नाप क्या होनी चाहिये। इस चित्र को लक्ष्य में रखते हुए यदि किसी युवक को मालूम होवे कि उसका कोई खास अंग जितना होना चाहिये नहीं है तो विशेषज्ञों की सलाह से उसे उस अंग के विकिसित करने के लिये ऐसे व्यायाम आदि करने चाहिये जिससे वह त्रुटि दूर हो जावे। सर्वश्रेष्ठ रक्त जो शरीर में बनता है वीर्य कहलाता है। वीर्य शब्द ही साधारण बोलचाल में बीज कहलाता है। यही वीर्य जब स्त्री के शरीर में उत्पन्न होता है तब रज कहलाता है। जिस प्रकार भूमि में

चित्र जिससे प्रकट होगा कि कितनी ऊँचाई में शरीर को कितना होना चाहिये।

ऊंचाई		वजन	छाती	कमर	भुजदंड	हाथ की पिंडली	जांघ	पैर की पिंडली	गरदन
फ़ीट	इंच	पौंड	इंच	इंच	इंच	इंच	इंच	इंच	इंच
५	+	११६	३४	२५।	११।।।	११	१८	१२	१२।।
५	१	१२०	३५	२५।।।	१२	११।	१८।।	१२।	१२।।।
५	२	१२६	३६	२६।।	१२।	११।।	१९	१२।।	१३
५	३	१३३	३७	२७।	१२।।	११।।।	१९।।	१२।।।	१३।
५	४	१३६	३८	२८	१२।।।	१२	२०	१३	१३।।
५	५	१४२	३८।।	२८।।।	१३	१२	२०।।	१३।	१३।।।
५	६	१४३	३९	२९।	१३।	१२।	२१	१३।।	१४
५	७	१४६	३९।	३०।	१३।।	१२।	२१।।	१३।।।	१४।
५	८	१५५	४०	३०।।।	१३।।।	१२।।	२२	१४	१४।।
५	९	१६१	४०।।	३१।।	१४	१२।।।	२२।।	१४।	१४।।।
५	१०	१६९	४१	३२।	१४।	१२।।।	२३	१४।।	१५
५	११	१७४	४१।।	३२।।।	१४।।	१३	२३।।	१४।।।	१५।।।
६	—	१७८	४२	३३।	१४।।।	१३	२४	१५	१५।।

पड़ने से बीज अंकुरित होकर पौदा (वृक्ष) बन जाता है इसी प्रकार रज रूपी भूमि में वीर्य रूपी बीज पड़ कर मनुष्य रूपी पौदे की उत्पत्ति करता है।

वीर्य की उत्पत्ति

किया हुआ भोजन अनेक परिवर्तनों के बाद, २ प्रकार के रस रूप में परिवर्तित हो जाता है:— (१) प्रसाद (शुद्ध) (२) किद (मल)। इनमें से संख्या २ तो मूत्र हो जाता है और पहला व्यान वायु द्वारा शरीरस्थ रस (Simples) में पहुँचता है और शरीरस्थ रस की अग्नि से तप कर ३ भागों में विभक्त हो जाता है:—

(२)　(१) मलभाग (कफ) (२) स्थूलरस (३) सूक्ष्मरस=रक्त। इनमें से सं० १ शरीरस्थ कफ में सं० २ शरीरस्थ रस में मिल जाते हैं। सं० ३ रक्त के स्थान यकृत और प्लीहा में पहुँचता है और शरीरस्थ अग्नि से तप कर फिर तीन भागों में बँट जाता है:—

(३)　(१) मलभाग (पित्त) (२) स्थूलभाग=रक्त (३) सूक्ष्मभाग (मांस)। इनमें सं० १ और २ तो शरीरस्थ पित्त और रक्त में शामिल हो जाते हैं। सं० ३ फिर तप कर तीन भागों में विभक्त हो जाता है।

(४)　(१) मल भाग (नासिका और नेत्र के मल) (२) स्थूल-भाग=माँस, सूक्ष्मभाग=मेद। इनमें से सं० १ [illegible] शरीर में अपने-अपने स्थानों पर चले जाते हैं, [illegible] ३ तप कर फिर तीन भागों में बँट जाता है।

(५)　(१) मल भाग=स्वेद पसीना (२) स्थूल भाग=मेद (३) सूक्ष्म भाग=अस्थि सं० १, २ तो शरीर में चले जाते हैं, सं० ३ फिर तीन भागों में बँट जाता है:—

(६)　(१) मल भाग (केश) (२) स्थूल भाग (अस्थि) (३) सूक्ष्म भाग=मज्जा, सं० १, २ तो शरीर में अपने अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं और सं० ३ के फिर पूर्ववत् तीन भाग हो जाते हैं:—

(७) (१) मल भाग (न्यन व त्वचा के स्नेह) (२) स्थूलभाग= =मज्जा (३) सूक्ष्म भाग=वीर्य्य। यहां पहुँच कर सं० ३ दो भागों में बँट जाता है:—

(८) (१) स्थूल भाग=वीर्य्य (२) सूक्ष्म भाग=ओज

(९) ओज दो प्रकार का होता है:—(१) पर (सूक्ष्म) (२)अपर (स्थूल)।

ओज की मात्रा

एक आदमी के शरीर में ओज सं० १ केवल आठ बूंद होता है और सं० (२) दोनों हाथ से बनाई हुई अंजुलि का आधा। जब वीर्य्य ओज बनने तक सुरक्षित रहता है तब इसी ओज से ब्रह्मचारी के चेहरे आदि पर चमक और तेजस्विता आ जाती है। पर ओज का स्थान हृदय है। अपर ओज स्त्री-पुरुषों के उत्पादक अंगों में पाया जाता है—

वीर्य्य और ओज में अन्तर

(१०) वीर्य्य में रजोगुण रहता है परन्तु ओज में सत्त्व गुण आ जाता है इसलिये ओजस्वी ब्रह्मचारी विषय वासना की इच्छा से ऊपर हो जाता है। यही इन दोनों में मौलिक अन्तर है।

वीर्य्य कब उत्पन्न होता है

युवकों में १६ वर्ष से पहले वीर्य्य और युवतियों में १२ वर्ष से पहले आर्तव (रज) की उत्पत्ति नहीं होती। सोलह वर्ष से पहले जो श्वेत स्राव युवकों में होता है वह शुक्र नहीं होता किन्तु

अष्ठीला ग्रन्थि का स्राव या प्रिल्यूमन आदि होता है उसमें शुक्राणु नहीं होते हैं।

वीर्य्य का स्थान

पश्चिमी लेखक वीर्य्य का स्थान प्रायः अंडकोश कहा करते हैं; परन्तु पूर्वी लेखक उसे समस्त शरीर में फैला हुआ बतलाते हैं। एक जगह लिखा है कि जैसे दुग्ध में घृत अथवा ईख में रस छिपा रहता है इसी प्रकार समस्त शरीर में वीर्य्य रहता है।[1]

वीर्य्य बनने में कितना समय लगता है ?

भोजन से बने हुये रस से वीर्य्य बनने में एक मतानुसार २४ घंटे दूसरे मतानुसार एक सप्ताह और तीसरे मतानुसार तीस (३०) दिन ६ घड़ी लगती हैं। रस से रक्त, रक्त से मांस आदि प्रत्येक के बनने में ५ दिन से कुछ अधिक समय लगता है।[2]

इसी प्रकार सुश्रुत संहिता में भी एक मास के अन्दर वीर्य बनने का विधान किया गया है और यह भी कहा गया है कि

---

(१) यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा। एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्॥

(२) धातौ रसादौ मज्जान्ते प्रत्येकं क्रमते रसः। अहोरात्रात्त्रयं पंच सार्द्धं दण्डं च तिष्ठति॥ भोज॥

यही वीर्य्य पुरुषों में वीर्य्य और स्त्रियों में आर्तव रज कहलाता है।[२]

यह अनुमान किया जाता है कि यदि एक मन भोजन की मात्रा हो तो उससे एक सेर रुधिर बनेगा और

वीर्य्य का मूल्य

एक सेर रुधिर से दो तोला वीर्य्य[२] जिसका तात्पर्य्य यह है कि यदि शरीर से एक तोला वीर्य्य निकल जावे तो उसका अर्थ यह है कि ४० तोला रक्त कम हो गया अथवा उतनी शक्ति जाती रही जो आध सेर खून के अन्दर होती है। और इतनी शक्ति ४० दिन के भोजन से प्राप्त हुआ करती है। एक बार के वीर्य्यपात से १० दिन की आयु भी मनुष्य की घट जाती है।

(१) एवं मासेन रसः शुक्रो भवति पुँसां स्त्रीणाञ्चार्तवमिति ॥

(सुश्रुत संहिता)

"One ounce of the seminal fluid is estimated by some authorities as being worth forty ounce of blood and by others being equivalent in energy to sixty ounce of blood, but though these estimates are naturally more or less uncertain or doubtful yet we know positively that this life bearing fluid is the richest secretion of the entire body and that it is indispensable to the development and maintenance of all the essential attributes of perfect manhood." (Encyclopædia of physical culture by Macfudden an American physiculturist.)

ब्रह्मचारी के दो भेद

ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं एक ऊर्ध्वरेता (२) अमोघ वीर्य्य। इन्हीं दोनों को नैष्ठिक (आजीवन) और उपकुर्वाण भी कहते हैं। पहले प्रकारके ब्रह्मचारी वे होते हैं जो समस्त आयु ब्रह्मचर्य्य के साथ व्यतीत करते हैं जैसे ऋषि दयानन्द या पुरुष-श्रेष्ठ न्यूटन। दूसरे वे जिन्होंने २४, ३६ अथवा ४८ वर्ष की आयु पर्यन्त ब्रह्मचर्य्य रक्खा जिससे वे अमोघ वीर्य्य हो जाते हैं। अमोघ वीर्य्य अपरिमित वीर्यवान् को कहते हैं जिसका वीर्य्य कभी निष्फल नहीं जाता। ब्रह्मचर्य्यकाल को पूर्णतया मर्यादा के साथ पालन करने ही से मनुष्य अमोघवीर्य्य हुआ करता है। ब्रह्मचर्य्य के इन दोनों भेदों पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों प्रकारों में वीर्य्य-रक्षा अनिवार्य्य है। जो पुरुष इसमें चूक करते हैं उनकी गणना इन दोनों प्रकारों में से किसी में भी नहीं हो सकती।

वीर्य्य की दो प्रकार की गति

वीर्य्य की दो गति होती हैं (१) ऊर्ध्व गति (२) अधोगति। ऊर्ध्व गति का भाव यह है कि वीर्य्य उत्पन्न होकर शरीर में रक्त के माध्यम से ऊर्ध्व हो जावे और अधोगति का आशय यह है कि वीर्य्य शरीर से निकल जावे। ये दोनों बातें अच्छी तरह से समझी जा सकें इसलिये इनसे संबंधित जरूरी बातों का यहां उल्लेख किया जाता है:—

प्रारंभ में जब शरीर में वीर्य बन जाता है और नष्ट होना शुरू नहीं होने पाता तब वह शरीरस्थ

ऊर्ध्व गति

रक्त में मिल कर, सारे शरीर में फैल कर समस्त शरीर को प्रभावित कर देता है। उसी के फल स्वरूप युवक के डाढ़ी और मूछों के बाल निकलने लगते हैं, उसकी आवाज़ में तवदीली हो जाती है, और उसकी प्रायः सभी बातें बदल सी जाती हैं। डाक्टर कोविन ने भी एक जगह इसी प्रकार की बातें वर्णन की है।१ इससे समस्त शरीर वलवान् होता है, मस्तिष्क में शक्ति का विकास होता है। हृदय उमंग और उत्साह से भरने लगता है और चेहरे से तेजस्विता प्रकट होने लगता है। यह है वीर्य की ऊर्ध्व गति और ब्रह्मचर्य का निष्कंटक मार्ग—

(१) In the boy of 16 or 18 who has lived and does live a pure life, whose sexular organism has just awakened to life when this secretion of minute cells reaches the Vasa Deferentia, it is reabsorbed into the blood, directed into the nerve channels of the system and as a result, his voice is altered, becomimg more full and deep, hair begins to show on his face, his figure is rounded out, his manner of thought and habit are altered and he takes on a new life. (Dr. Cowen quoted in the self pollution by H. S. Gambers P. - 16 & 17.)

अधोगति

जब युवकों के अन्दर कुछेक ऐसी बातों का समावेश हो जाता है जिनसे वीर्य की उपर्युक्त ऊर्ध्व गति नहीं होने पाती, तब वीर्य को शरीर से किसी न किसी प्रकार निकालने के लिए युवक बाधित से हो जाते हैं और उसके निकलने से शरीर और उसमें होने वाली शक्तियों का विकास न होकर ह्रास होने लगता है। वीर्य जब ऊर्ध्व गति के मार्ग पर होता है तब उसके अन्दर एक विशेष प्रकार का गाढ़ापन होता है परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति हो जाने से वह गाढ़ापन जाता रहता है और उसके स्थान में वीर्य में पतलापन आ जाता है और तभी उसकी प्रवृत्ति अधोगति की ओर हो जाती है।

वह प्रतिकूल परिस्थिति क्या है?

वीर्य जिस प्रतिकूल परिस्थिति के हो जाने से अधोगति की ओर प्रवृत्त हो जाता है वह परिस्थिति दुष्ट भोजन और दुष्ट विचार ही से आया करती है।

दुष्ट भोजन

वह भोजन, जो ब्रह्मचर्य का बाधक है और जिससे वीर्य की ऊर्ध्वगति नहीं होने पाती, क्या है? यही बात यहां बतलाई जाती है। बहुत खटाई, अधिक मात्रा में लाल मिर्च और गर्म मसाला या बहुत सी चटपटी चीजें जिस भोजन में शामिल हुआ करती हैं, वह दुष्ट भोजन कहलाता है—मांस, अंडा चाय, काफ़ी तम्बाकू, शराब, भंग चरस आदि की गणना

भी दुष्ट भोजन ही के अन्तर्गत है—डाक्टर कोवन, और डाक्टर वरनार मैकफैडन ने भी इसका समर्थन किया है१। इनमें से चाय, तम्बाकू, शराब आदि उत्तेजना पैदा

(१) As regards the wrong dietetic habits, I can not do better justice to it than by quoting the observations of two famous writers on this subject.

I. Says Dr. Cowen;— "The large quantity of flesh meat, together with eggs, fish, pepper, spices, tobacco, tea, coffee, chocolate, bread made from fine wheat flout—all these things have a direct influence on the abnormal exercise of the sexual system. Tea, coffee, tobacco, alcoholic liquors, and animal food are all stimulating or narcotic in their nature; and whatever is taken into the body of narcotic or stimulating nature irritates the nervous system but specially the nerves of the sexual system, and through the reflex action on the base of the brain amativeness is inflamed and excited and in this way come lustful desire."

II. Says Bernarr Macfadden:—"Meat and eggs being rich in protein should not be used too freely, and if the assimilation is specially poor it may be better to avoid them entirely for a time. * * *. Not only Alcoholic drinks, but even tea and coffee should be avoided. Pepper, hot sauces and condiments of all kind are specially objectionable. The things that you can eat and enjoy raw, particularly fruits

करके वीर्य्य को पतला करती हैं और मैदे की रोटी आदि क़ब्ज़ पैदा करती हैं। इस प्रकार क़ब्ज़ हो जाने से पाखाना साफ़ नहीं होता है। जब मनुष्य मल निकालने के लिये देर तक बैठ कर बल करता है तो उससे बड़ी आंतों (Large Intestine) में कम्पन उत्पन्न होता है और इस कम्पन से शुक्राशय (Seminal vesicele) को भी धक्का लगता है जिससे वीर्य्य अपनी जगह छोड़कर बाहर निकलने लगता है। इसलिए ऐसे भोजनों से सदैव युवकों को बचना चाहिये। एक और जगह एक विद्वान् ने कहा है कि जब मनुष्य बहुत खटाई, इमली और चटनी आदि खाता है तब उससे भी वीर्य्य दूषित होने लगता है। उसने यह भी लिखा है कि यदि मनुष्य ऐसी चीजों का खाना नहीं छोड़ते तो उन्हें यह विचार छोड़ देना चाहिए कि वे शुद्ध वीर्य्य या उत्पादक शक्ति रख सकते हैं।[1]

शराब में आलकोहल होता है। मामूली शराब में १०

green salads, nuts and so forth, should be used extensively. in the diet." (Self pollution by H. S. Gambers P. 39 to 41)

1. Normal semen of a healthy man is slightly alkaline in reaction and that the spermartozon can only live in the neutral or alkaline semen. This means that, whenever you take into your system large quantities of acidic food, you thwart the great purpose of nature. Your spices, youı tamarind, your chatneys and your

फ़ीसदी, ह्विसकी और बरांडी में ४० से ६० फ़ीसदी तक। यह शरीर में पहुँच कर रुधिर, नाड़ी और मस्तिष्क के कार्य्यों में विघ्न डाल देता है। गोलकों को बिगाड़ कर शरीर के भीतर सूजन पैदा कर देता है।

तम्बाकू से भयानक हानि २४ घंटे में जितना तम्बाकू साधारण रीति से एक मनुष्य पी लिया करता है, उसमें जितना निकोटिन (Nicotin) नाम का विष होता है, उसे यदि मनुष्य एक ही वार इस प्रकार खा लेवे कि वह उसके शरीर के भीतर पहुँच जावे तो यह निश्चित है कि वह आदमी मर जावेगा। एक विद्वान् ने लिखा है कि बुरी आदतों में से पहली और अधिक बुरी आदत, जिससे मनुष्य की स्त्री-प्रसंग-संबंधी योग्यता में बट्टा लगता है, तम्बाकू पीने की है*। फिर एक दूसरी जगह उसी विद्वान् ने लिखा है कि डाक्टरों के नजदीक तम्बाकू ही मुख्य

pickles are all rich in vegetable acids and if you can not give them up, you must give up the idea of possessing healthy semen or normal sexual powers, (How to build up virility by H. S. Gambers. P. 31.)

* The first and the most important of all the evil habits that cause sexual weakness is smoking. * * * The active principle of tobacco is necotine which in its pure form is a terrible poison. (How to build up Virility by H. S. Gambers P. 28-29.)

वस्तु है जिससे मनुष्य सन्तान पैदा करने के अयोग्य हो जाता है। इसलिए यदि तुम पुंसत्व को रखना चाहते हो तो तम्बाकू पीने की आदत छोड़ दो*—

दूसरा सर्ग

ब्रह्मचर्य्य से संबंधित कुछ और आवश्यक बातें

सदैव स्मरण रखने और ध्यान देने योग्य कुछेक बातों का अब यहां उल्लेख किया जाता है। १—यदि इच्छा रखते हुए भी, कि ब्रह्मचर्य्य के नियमों का पालन किया जाय, किसी नवयुवक के भीतर काम विकार उत्पन्न हो और जी चाहने लगे कि उत्पन्न वीर्य्य का नाश किया जावे तो उसे निम्न उपायों में से किसी एक-दो का आश्रय लेना चाहिए:—

(क) शीतल जलसे, चित्त के शान्त हो जाने तक, शिर को बराबर धोते रहना।

(ख) बहुत सा ठंडा पानी पी डालना।

(ग) अनिच्छा पर भी यत्न करके मूत्र त्याग करना और मूत्रेन्द्रिय को भले प्रकार ठंडे जल से तर कर देना।

*To the medical man tobacco is known as an anaphrodisiac i. e. the agent for pressing down the sextual desire and lowering the sexual powers, and wihout doubt, tobacco is in most cases, the chief cause of functional weakness and impotence. If you have the least regard for your powers of manhood, give up the use of tobacco entirely. (Do. 29.)

(घ) ईश्वर-चिन्तन में लग जाना और प्राणायाम करते हुए ईश्वर का "रुद्र" नाम जपना।

(च) शरीर के नश्वर होने और संसार की असारता का वार-बार स्मरण करना।

(छ) दुखी व्यक्तियों और श्मशान आदि का वार-बार चिन्तन करना।

(ज) किसी आश्चर्य्य-वर्धक खेल में लग जाना या ऐसी ही कोई पुस्तक पढ़ने लगना।

(झ) लुहार की धौंकनी की तरह जल्दी जल्दी ५ मिनट तक श्वास लेना और निकालना।

(ट) ३, ४ फरलांग दौड़ना या ५०, ६० बैठक कर डालना।

(ठ) उपवास शुरू कर देना और चित्त के शान्त होने तक जारी रखना।

नोट—इनमें से किन्हीं भी एक दो बातों का आश्रय लेकर उन्हें पूर्ण रीति के साथ कर डालने से चित्त शान्त होजाया करता है।

(ड) विशेष अवस्थाओं में, जब उपर्युक्त उपायों के काम में लाने से भी, विषय-वासना कम न हो तो एक इलाज इसका यह भी है:—सेर भर वर्फ़ को एक लम्बे कपड़े की ४, ५ तहों में रखकर उसे पहले पीठ की ओर रीढ़ की हड्डी के सब से निचले भाग पर रक्खो और ५ मिनट तक रक्खा रहने दो। उस

के बाद उसे गरदन पर और फिर गरदन के ऊपर शिर के पिछली ओर लगभग १० मिनट तक रक्खो—इससे उत्तेजना दब जावेगी—बर्फ़ फिर पीने के लिये इस्तेमाल किया जा सकता है।

२—स्वप्न-दोषादि प्रमेह की प्रारंभिक अवस्था में निम्नांकित वस्तुएँ औषधि-रूप में, काम में लानी चाहिएँ।

(क) बरगद का ताज़ा दूध प्रातः और सायं दोनों समय पाँच बूंद से शुरू करके एक बूंद प्रति सप्ताह बढ़ाते हुए नौ बूंद तक करके ६ सप्ताह तक इस्तेमाल करना चाहिए।

(ख) अथवा पाँच तोले बबूल की हरी फली (सेंगरी) लो और उन्हें टुकड़े-टुकड़े करके साये में सुखालो, जब बिलकुल सूख जावे तब उसे खूब बारीक पीस कर चूर्ण तैयार कर लो। उस चूर्ण को बरगद के दूध में एक सप्ताह तक भिगो रक्खो। उसके बाद उसे साये ही में सुखा डालो और फिर सम-मात्रा में असगंध के चूर्ण में उसे मिला लो—बस औषधि तैयार हो गई—अब इसमें से एक एक माशा सुबह शाम गाय के दूध के साथ खा लिया करो। इससे प्रमेह दूर होता है और वीर्य्य की वृद्धि होती है।

३—कभी कभी धूप में या आग के सामने अधिक बैठने से वीर्य्य-रक्षा में बाधा पहुँचती है—जब कभी ऐसी सूरत आ जाय तो जननेन्द्रिय को एक-दो बार अधिक ठंडे जल से स्नान कराना

चाहिए। स्नान का तात्पर्य्य यह है कि शिस्न और उसके आस-पास का १० अंगुल परिमित स्थान शीतल जल से खूब तर कर देना। ८ दिन तक बराबर इस प्रकार के स्नान से स्वप्न दोषादि भी दूर हो जाते हैं।

तीसरा

वीर्य्य की अधोगति के दो कारण इससे पूर्व बताये जा चुके हैं। (१) दुष्ट भोजन (२) दुष्ट विचार।

दुष्ट विचार दुष्ट भोजन का ऊपर उल्लेख हो चुका है। दुष्ट विचार की बात यहाँ कही जाती है:—

स्त्रियों का स्मरण, उनके रूपादि का वर्णन, उनके साथ खेलना, उनकी ओर देखना, उनसे एकान्त में बातचीत करना, विषय भोग के संकल्पों का बारबार मन में उठना, स्त्री प्राप्ति के लिए यत्नवान् होना तथा साक्षात् संभोग—इन सब को विद्वानों ने मैथुन ही कहा है।[1]

जब मनुष्य के भीतर उपर्युक्त आठ बातों में से किसी एक से भी संबन्धित विचार उत्पन्न होते हैं तो उन्हीं विचारों को दुष्ट

[1] स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं।
संकल्पो ऽध्यवसायश्च क्रिया निष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः
विपरीतं ब्रह्मचर्य्यमेतदेवाष्ट लक्षणम्।
मनुस्मृति में भी इसी प्रकार की बात कही गई है।

विचार कहते हैं। ये दुष्ट विचार समय समय पर जब मनुष्यों के भीतर उठते रहते हैं तो इनका वीर्य्य पर

दुष्ट विचार का प्रभाव

बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। और इस प्रकार के इन विचारों के प्रभाव से वीर्य्य पतला होना शुरू हो जाता है और वीर्य्य सम्बन्धी समस्त रोगों का प्रारम्भ इसी वीर्य्य के पतले होने से हुआ करता है। इसलिए आवश्यक है कि विषयवासना की ओर प्रवृत्त करने वाले विचारों को मनमें उत्पन्न ही न होने दिया जावे।

दुष्ट विचारों की उत्पत्ति के कारण

इनके उत्पन्न होने के प्रायः दो कारण होते हैं। एक अश्लील और उत्तेजनोत्पादक ग्रन्थों का अध्ययन, दूसरा कुसंगति। जिसमें अश्लील खेलों सिनेमा आदि का देखना भी शामिल है—इनमें से किसी एक या दोनों कारणों के उपस्थित होने और बने रहने से मनुष्य के भीतर दुष्ट विचारों का जन्म हुआ करता है।

एक शंका और उसका समाधान

उपर्युक्त आठ बातें जिन्हें मैथुन कहा गया है यदि सर्वथा निषिद्ध ठहराई जाँय तो फिर मनुष्य गृहस्थ धर्म का पालन किस प्रकार कर सकता है? इस शंका का उत्पन्न होना स्वाभाविक है इसका समाधान यह है—(१) प्रथम तो ग्रन्थ विद्यार्थी-जीवन से सम्बन्धित है, इसलिए इसमें गृहस्थाश्रम

की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। (२) द्वितीय जो गृहस्थ हैं उनके भीतर विषय-वासना के विचार बार-बार उत्पन्न ही नहीं होते क्योंकि इच्छा और आकांक्षा अप्राप्त वस्तु की हुआ करती है। गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुरुष दोनों मिल कर रहते हैं और इसीलिए दोनों एक दूसरे को प्राप्त हैं। फिर उनमें, अप्राप्ति से जो इच्छा उत्पन्न हुआ करती है, उसके लिये कोई स्थान ही नहीं है। इसके सिवा जो गृहस्थ पुरुष और स्त्री इस आश्रम में रहते हैं और नियम के साथ गृहस्थ धर्म के पालन की व्यवस्था रखते हैं उन्हें धर्म-शास्त्रकारों ने ब्रह्मचारी ही कहा है। १

इस संबंध में सुकरात की शिक्षा

एक व्यक्ति ने यूनान के प्रसिद्ध विद्वान सुकरात से पूछा कि स्त्री-प्रसंग कितनी बार करना चाहिए। सुक़रात ने उत्तर दिया कि जीवन भर में एक बार। दुबारा पूछने पर उत्तर मिला कि वर्ष में एक बार। यदि कोई इससे भी शान्त न हो ऐसा प्रश्न करने पर सुक़रात ने कहा कि महीने में एक बार करे। जब उससे फिर पूछा गया कि यदि कोई इससे शान्त न हो, तो सुक़रात ने उत्तर दिया कि पहले उसे कफ़न

(१) ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥ (याज्ञवाल्क्य)

आदि लाकर घर में रख लेना चाहिए उसके बाद जो इच्छा हो करे स्पष्ट है कि सुकरात विषयाधिक्य को मृत्यु का कारण समझता है।

कीथ नामक एक विद्वान् ने वीर्य रक्षा के संबन्ध में बड़ा उत्तम बात कही है। उसे हम उसी के शब्दों में बतला देना चाहते हैं।

कीथ की शिक्षा

"This seed (वीर्य) is marrow to your bones, food to your brains, oil to your joints and sweetness to your breath and if you are a man you should never lose a drop of it until you are fully thirty years of age, and then only for the purpose of having a child which shall be blessed from Heaven and ready one of the inmates of the Kingdom of Heaven by being born again."(Melvil Keith)

अर्थात् यह वीर्य तुम्हारी हड्डियों के भीतर का गूदा (मज्जा) तुम्हारे मस्तिष्क का भोजन, तुम्हारे जोड़ों के लिए तेल और तुम्हारे श्वास का मिठास है। यदि तुम मनुष्य हो तो तुम्हें ३० वर्ष❀ की आयु प्राप्त करने से पहले उसकी एक बूंद भी नष्ट नहीं होने देनी चाहिये और वह भी उस समय केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये। उस समय असंदिग्ध रीति से स्वर्गीय प्राणधारियों में से एक आकर तुम्हारे घर में जन्म लेगा।

❀(१) अबिसीनिया में ३० वर्ष से कम आयु वालों की सन्तानों को वहां के पुरुष, नियमानुसार, जंगली जानवरों को खिला देते हैं। उनका विचार है कि ऐसी सन्तान बलवती नहीं हो सकती।

वात्स्यायन मुनि ने १६ से ७० वर्ष तक की आयु को युवावस्था कहा है:—

"आषोडशात्सप्तति-वर्षपर्यन्तं यौवनम्" । (वात्स्यायनः)

वात्स्यायनाचार्य और युवावस्था

एक समय था जब यहाँ ७० वर्ष तक की आयु युवावस्था में परिगणित होती थी, परन्तु आज थोड़े पुरुषों की समस्त आयु ७० तक पहुँचती है। अधिकतर यहाँ के मनुष्य बुढ़ापे से पहले ही अपना जीवन-संग्राम समाप्त कर देते हैं। वेद की आज्ञा है कि बुढ़ापे से पहले मनुष्य को नहीं मरना चाहिए। १

वीर्य का मन के अधीन होना

एक जगह कहा गया है कि मनुष्य के चित्त (मन) के अधीन उसका वीर्य होता है और वीर्य के अधिकार में उसका जीवन। इस लिए मन और वीर्य दोनों की तत्परता से रक्षा करनी चाहिए। २ यदि मन में दुष्ट विचार न आवे तो ऐसा मन वीर्य का रक्षक ही समझा जा सकता है—

---

(१) मा पुरा जरसो मृथाः ॥ अथर्ववेद—
अर्थात् बुढ़ापे से पहले मत मर—

(२) चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तञ्च जीवनम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥

वीर्य्य-नाश के भयानक-परिणाम

डाक्टर स्मिथ (Dr. Smith) ने राजयक्ष्मा तपेदिक के एक सहस्र रोगियों की इस उद्देश्य से जाँच की कि मालूम किया जावे कि उनके इस जीर्ण ज्वर होने के कारण क्या-क्या हैं। उनकी जाँच का फल यह निकला:—

१८६ अति स्त्री-प्रसंग से
१८३ हस्त-मैथुन से
२२० प्रमेह से
४११ अन्य कारणों से
१००० योग

ये अंक प्रकट करते हैं कि एक हज़ार में ५८६ रोगियों के रोग का कारण वीर्य्य-नाश था।

भुवाली सैनेटोरियम की एक घटना

नैनीताल के ज़िले में भुवाली नामक स्थान पर एक सैनिटोरियम, तपेदिक के रोगियों के लिए है। यह स्थान मेरी कुटी से जो रामगढ़ में है, ९ मील के फ़ासले पर है। इस सैनेटोरियम में, ६, ७ वर्ष हुए लगभग १९२६ ई० में एक विद्यार्थी, जिसकी आयु केवल १८ वर्ष की थी, प्रविष्ट हुआ।

यह विद्यार्थी इन्ट्रेन्स (School final) को परीक्षा देने वाला था। प्रवेश-तिथि से ३ मास के भीतर ही इसकी मृत्यु हो गई। इसके तपेदिक़ होने का कारण भी यही था कि उसने हस्त-मैथुन से समस्त उत्पन्न हुआ वीर्य्य नष्ट कर डाला था।

चौथा अध्याय

पहला सर्ग

विचारों में अपवित्रता न आने पावे इसके लिए नवयुवकों को अपना जीवन पुरुपार्थ-मय बनाना चाहिए। जब मनुष्य आलस्य और प्रमाद के वशीभूत होकर निकम्मा और खाली रहने लगता है तभी बुरे विचार उसके भीतर उत्पन्न होने लगते हैं। एक विद्वान् ने जैसा कि कहा जा चुका है, ठीक ही कहा है कि मनुष्य का खाली मस्तिष्क शैतान का कारखाना होता है। १ इस खाली रहने को निषिद्ध समझ कर कुछ न कुछ करने का अभ्यास रखना चाहिए।

पुरुपार्थमय जीवन

पुरुषार्थ के सम्बन्ध में बड़े उत्तम वाक्य हमें एक जगह ऐतरेय ब्राह्मण में मिलते हैं। उन्हें हम पाठकों के लाभार्थ यहां उद्धृत करते हैं:—

ऐतरेय ब्राह्मण और पुरुषार्थ की शिक्षा

(१) Empty mind devils workshop.

नानाश्रांताय श्रीरस्ति । पापो नृषद्वरो जनः ।
इन्द्र इच्चरतः सखा । चरैवेति चरैवेति ॥१॥

अर्थात्–श्रम किये विना श्री प्राप्त नहीं होती । सुस्त मनुष्य पापी होता है । पुरुषार्थी का मित्र ईश्वर है । प्रयत्न करो, प्रयत्न करो ।

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥
चरैवेति चरैवेति ॥२॥

अर्थात्—जो चलता है उसको जाँघें पुष्ट होती हैं, फल मिलने तक प्रयत्न करने वाले का आत्मा प्रभावशाली होता है। प्रयत्न कर्ता के पाप मार्ग ही में मर जाते हैं। प्रयत्न करो, प्रयत्न करो ।

आस्ते भग, आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥
चरैवेति चरैवेति ॥३॥

अर्थात्—जो बैठता है उसका भाग बैठता है, जो खड़ा होता है उसका भाग खड़ा होता है । जो सोता है उसका भाग सो जाता है[1] । जो चलता है

(1) अङ्गरेज़ी में भी इसी प्रकार की एक कहावत है:—
He who sleeps his fortune sleeps.

उसका भाग भी चलता है। इसलिए प्रयत्न करो, प्रयत्न करो।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥
चरैवेति चरैवेति ॥४॥

अर्थात्—सो जाना कलियुग है। आलस्य छोड़ना द्वापर, उठना त्रेता और पुरुपार्थ करना कृतयुग है। पुरुपार्थ करो, पुरुपार्थ करो।

चरन्वै मधु विंदति चरन्त्स्वादु मृदुवरम् ।
सूर्य्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन् ॥
चरैवेति चरैवेति ॥५॥

अर्थात्—मधुमक्खी चल कर मधु प्राप्त करती है, पक्षी भ्रमण करने ही से मीठा फल प्राप्त करते हैं। सूर्य को जो शोभा है वह उसके निरालस भ्रमण ही से है। इसलिए पुरुषार्थ करो, पुरुपार्थ करो। (ऐत० ब्रा० ७।१५)

तपस्वी जीवन

पुरुषार्थ करते हुए मनुष्य को अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिए जिससे वह सरदी, गरमी और कठोरताओं के सहन करने का अभ्यासी हो जावे। इन कठोरताओं के सहन करने का नाम ही तप है।

तैत्तिरीयारण्यक में (१) ऋतु=नियमानुकूल जीवन बनाना (२) सत्य=सत्याचारी बनना (३) श्रुतं=स्वाध्याय-शील बनना (४) शान्त=चञ्चलता रहित होना (५) दम=इन्द्रिय-निग्रह (६) शम=मनोनिग्रह (७) दान=दूसरों की सहायता करना (८) यज्ञ=शुभ कर्म करना और (९) भूर्भुवः स्वः= सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर की उपासना जिन साधनों से काम में लाई जाती है उन सबको तप कहा है। नवयुवकों को इन तपों को धारण करके अपना जीवन तपस्वी बनाना चाहिए। तप का जीवन व्यतीत करने से मनुष्य इस योग्य हो जाता है कि फिर दुनिया के दुख उसे तकलीफ़ नहीं दे सकते। एक उदाहरण से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकेगी।

यह एक घटना और सच्चा उदाहरण है कि एक मनुष्य गरमी की ऋतु को बड़े आराम से खस की टट्टी और बिजली के पंखों में व्यतीत किया करता था परन्तु कर्तव्य के अनुरोध से उसे एक टीन से छाये हुये कमरे में रहना पड़ा। गरमी आने पर टीन ने तप कर उसके शिर को चकराना शुरू कर दिया। उसे दुख तो हुआ परन्तु उसने उपाय सोच लिया, दूसरे दिन ठीक दुपहरी के समय जब लू (गर्म हवा) चल रही थी उसने टीन के छप्पर से निकल कर बाहर धूप और लू में टहलना शुरू किया आधा घंटा टहलने के बाद उसके पांव शिर और

सारा शरीर जलने लगा ऐसी हालत में जब बाहर की गरमी असह्य हो गई तब वह अपने उसी टीन के छप्पर में घुसा तो अब उसे, वह टीन का कमरा ठंडा मालूम होने लगा। उस कमरे की गरमी उसको इसलिये अब तकलीफ़ का कारण नहीं रही कि उसने उससे अधिक गरमी बाहर टहल कर सह ली इसको तप कहते हैं। तपस्वी मनुष्य संसार के दुखों से स्वतन्त्र हो जाता और न ऐसे मनुष्य के पुरुपार्थ का मुंह उलटे मार्ग की ओर हो सकेगा और न वे असफल मनोरथ हो सकेंगे। इसी पुरुपार्थ-शीलता और तपस्वी जीवन से उनके विचार शुद्ध रह सकेंगे और उनमें दुष्टता का समावेश भी न हो सकेगा।

वेद और पुरुपार्थ

वेद में भी पुरुपार्थ की महत्ता प्रकट करते हुए एक जगह लिखा है कि "जो जागता है ऋचायें उसी को चाहती हैं, जो जागता है साम के मंत्र उसी की ओर चलते हैं। जो जागता है सोम (ईश्वर) उसी का मित्र (सहायक) बनता है[1]। स्पष्ट है कि वेद पुरुपार्थ की कितनी उत्तम शिक्षा दे रहे हैं। इसके बतलाने की जरूरत

(१) यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥
ऋग्वेद ५।४४।१४

नहीं है कि जागना पुरुषार्थ और सोना आलस्य और प्रमाद का द्योतक है। फिर एक जगह लिखा है कि जो मनुष्य पुरुषार्थ करके अपने को थका नहीं लेते वे ईश्वर की दया के पात्र नहीं बनते१। फिर एक और जगह लिखा है कि परिश्रम ही से यज्ञकर्ता को (ईश्वर का) संरक्षण प्राप्त होता है२।

दूसरा सर्ग

प्रारब्ध

पुरुषार्थमय जीवन की शिक्षा देने पर कुछेक शंकायें कुछ सज्जनों के हृदयों में उठा करती हैं। उनमें से सब से पहली बात प्रारब्ध है। अर्थात् लोग कह उठा करते हैं कि "हुइ है वही जो राम रच राखा।" अर्थात् जो कुछ क़िसमत में ईश्वर ने लिख दिया है वही होगा फिर पुरुषार्थ करने की बात व्यर्थ है। असलियत यह है कि इस प्रकार की शंका करने वाले प्रारब्ध क्या वस्तु है इसको नहीं समझते। मनुष्य जब कर्म करता है तो वे किए हुए कर्म तीन रूप में रहा करते हैं:—

---

(१) न ऋते श्रान्तस्य सखाय देवाः॥ (ऋग्वेद ४।३३।११)

(२) श्रान्ताय सुन्वते वरुथमस्ति॥ (ऋग्वेद ८।६७।६)

मनुष्य जब कर्म करता है और जब तक वह कर्म-फल देने योग्य नहीं हो जाता है जब तक कर्म की पहली हालत रहती है और इस रूप वाले कर्म को **क्रियमान** कहते हैं और जब कर्म पूरा होकर फल देने योग्य होकर किये हुए— कर्मों के भंडार में जमा हो जाता है तब उसे **संचित** कहने लगते हैं और उन्हीं संचित कर्मों में से जिस कर्म का फल मिलने लगता है उसी को **प्रारब्ध** कहने लगते हैं। अतः स्पष्ट हो गया कि प्रारब्ध मनुष्य के किये हुए कर्म ही के अनुरूप होती है। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कहीं से लिख-लिखाकर मनुष्य के सिर थोपी जाती हो। प्रारब्ध बनाने वाले अपने कर्म ही होते हैं, इसीलिए सद्ग्रंथों में पुरुषार्थ करते हुए अच्छे कर्मों के करने की शिक्षा दी गई है, जिससे उनकेद्वारा अच्छा प्रारब्ध बन सके। प्रारब्ध बनाना अपने ही अधीन है। मनुष्य अपने भाग्य का विधाता आप है। प्रारब्ध कहीं से बनी बनायी आ जाती है यह विचार आलसियों के मस्तिष्क की उपज है। इसे अधर्म और गिरावट का काम समझकर छोड़ देना चाहिए।

कर्म के तीन रूप

दूसरी बात पुरुषार्थ के विरुद्ध यह कही जाती है कि समय जैसा चाहता है मनुष्य से कराता है और मनुष्य को मजबूर हो कर वही करना पड़ता है, इसलिये पुरुषार्थ व्यर्थ है। यह विचार भी बोदा और निहायत बोसीदा है और इसका

क्या मनुष्य समय के बंधन में है ?

आविष्कार भी प्रमादियों ने ही किया प्रतीत होता है। महाभारत में युद्ध समाप्त होने पर युधिष्ठिर ने भीष्म से अनेक प्रश्न किये थे और भीष्म पितामह ने उनके उत्तर दिये थे। शान्ति पर्व में ये प्रश्नोत्तर अंकित हैं। उनमें एक प्रश्न इसी प्रकरण से संबंधित था।

एक प्रश्नोत्तर

युधिष्ठिर ने पूछा कि समय मनुष्य को बनाता है या मनुष्य के अधिकार में है। जिस प्रकार का चाहे अपने लिये समय बना लेवे। भीष्म ने उत्तर दिया कि मनुष्य ही समय का बनाने वाला होता है[१]। शुक्र-नीति में भी इसी प्रकार की शिक्षा मिलती है। एक जगह कहा है कि "आचारवान् मनुष्य समय का निर्माण किया करता है[२]।" फिर दूसरी जगह अंकित है, कि यदि समय जैसा चाहे मनुष्य को बना दिया करता है तो फिर मनुष्य पर कर्म का उत्तरदायित्व किस प्रकार ठहर सकता है[३]। एक अंग्रेज विद्वान् ने भी इसी

(१) कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूत् राजा कालस्य कारणम्॥
(म० भारत शान्ति पर्व)

(२) आचार-प्रेरको राजा ह्येतत् कालस्य कारणम्॥
(शुक्र नीति)

(३) यदि कालः कारणं हि कस्मात् धर्मोस्ति कर्तृषु॥

शिक्षा का समर्थन किया है। उसने लिखा है कि "समय घटनाओं का निर्माता नहीं होता किन्तु घटनायें उसका निर्माण किया करती हैं१।" जो लोग संसार में कुछ करके अपना नाम छोड़ा करते हैं वे समय के निर्माता हुआ करते हैं। गौतम-बुद्ध, शङ्कर और दयानन्द के जीवन इसके प्रमाण में उपस्थित किये जा सकते हैं। एक वार नेपोलियन से जब वह मिश्र का शहर इलेक्ज़ेन्डिरिया विजय कर चुका था, किसी ने पूछा कि यदि "अवसर हो तो क्या आप मिश्र के और शहर भी फ़तह करेंगे ? तो वह इस प्रश्न को सुनकर आवेश में आगया और कहा कि अवसर क्या आसमान से आवेगा ? अवसर को मैं बना सकता हूं, मनुष्य के अधिकार में है कि जैसा चाहे अवसर बनावे२। आलसियों ने इसी प्रकार के अनेक शब्द जैसे भाग्य, शुदनी, भावी, आबोदाना, कलजुग इत्यादि गढ़ रक्खे हैं और अपने आलस्य, प्रमाद और निकम्मेपन के छिपाने के लिये इन्हीं में से किसी एक को, जैसा अवसर देखते हैं, प्रयोग कर दिया करते हैं। इन शब्दों को आलसियों के कोश के शब्द समझकर इनकी ओर किसी उन्नति के इच्छुक नर-नारी को ध्यान नहीं देना चाहिए।

(१) Time is not the creator of events, but by them created.—'Problem of time' by J. Alexander Gunn.

(२) निपोलियन के वाक्यों का अङ्गरेजी अनुवाद यह है:—

I make opportunity, it is man who makes opportunity.

तीसरा सर्ग

उद्देश और दृढ़ प्रतिज्ञा

उपर्युक्त ब्रह्मचर्य और पुरुषार्थमय जीवन बनाने आदि को, परिमित रूप देकर सामयिक उद्देश बना लेना चाहिए, और उद्देश बनाकर ईश्वर को साक्षी देते हुए दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि पूरा यत्न उनके पालन का किया जायगा और किसी दशा में भी उनके विपरीत आचरण नहीं किया जायगा। मनुष्य जब किसी बात को अपना उद्देश बना लेता है तो उसके सभी कामों पर नियत किये हुये उद्देश का प्रभाव पड़ा करता है और उससे कोई भी काम ऐसे नहीं होने पाते जो उस उद्देश के विरुद्ध हों। इसलिए उद्देश्य का नियत कर लेना आवश्यक है।

उद्देश्य के दो भेद

उद्देश्य नियत करते समय यह समझ लेना चाहिए कि उद्देश्य के दो भेद होते हैं:—(१) स्थिर (२) अस्थिर (सामयिक) स्थिर उद्देश्य जीवनभर का एक होता है और वह उद्देश्य है वेद के शब्दों में "अनृतात्सत्यमुपैमि।"[१] अर्थात् असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण करना। उपनिषद् में इसी सत्य का नाम धर्म कहा गया है।[२]

(१) देखो यजुर्वेद १। ५

(२) यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्॥ अर्थात् निश्चय जो वह धर्म है वही सत्य है। बृहदारण्यकोपनिषद १। ४। १४।

यह उद्देश मनुष्य मात्र का जीवन भर के लिए है। दूसरा अस्थिर उद्देश सामयिक होता है। वह सामयिक आवश्यकताओं के पूरा करने के लिए हुआ करता है। एक विद्यार्थी का उद्देश विशेष रीति से विद्याध्यन होता है परन्तु एक गृहस्थ का यह उद्देश्य नहीं हो सकता। उसका तात्कालिक उद्देश धन कमाना है। इसी प्रकार समय समय पर यह उद्देश अदलता-बदलता रहता है; परन्तु जिस समय का जो उद्देश हो उसके पालन करने की दृढ़ प्रतिज्ञा उपर्युक्त भाँति कर लेनी चाहिए और समय समय पर उस प्रतिज्ञा को दुहराते रहना चाहिए जिससे उसके विपरीत चलने का ध्यान ही मनुष्य के हृदय में न उठे। परन्तु इच्छा न होने पर भी मन की चंचलता उद्देश के विपरीत आचरण करने का प्रलोभन देने लगती है।

प्रतिज्ञा-भंग की इच्छा पर विरुद्ध भावना

यदि मनुष्य के हृदय में इस प्रकार के प्रलोभन उठें तो उसे उनके विरुद्ध भावना अपने हृदय में उत्पन्न करनी चाहिए। विरुद्ध भावना का मतलब यह है कि उसे अपने भीतर सोचना चाहिए कि "मैंने ईश्वर को साक्षी देते हुए अमुक प्रतिज्ञा की थी, अब यह बड़ी लज्जा की बात है कि मैं स्वयं उसे तोड़ना चाहता हूं"। इस प्रकार की भावना से आत्म-ग्लानि अर्थात् अपने से घृणा होने की भावना

जागृत हो जाती हैं और मनुष्य उस प्रतिज्ञा-भंग करने के पातक से बच जाता है।

अपने उद्देश पर जमे रहने की भावना दृढ़ होती रहे इसके लिये सत्संग अत्यन्त आवश्यक वस्तु है।

सत्संग सत्संग का तात्पर्य यह है कि आचार और विचार में अपने से श्रेष्ठ पुरुषों की संगति में बैठना। ऐसे पुरुषों के पास बैठने से उसके भीतर सद्गुणों का समावेश होता रहता है और दुर्गुण छूटते रहते हैं। अयोग्य और उच्छ्रावल पुरुषों के पास बैठने से मनुष्य में दुर्गुण आते हैं और बुरे कामों के करने की प्रवृत्ति बनने लगती है। यही कुप्रवृत्ति अन्त में उसके पतन का कारण बन जाया करती है; इसलिए सत्संग में रहना और कुसंग से बचना प्रत्येक मनुष्य और विशेष कर नवयुवकों का मुख्य कर्तव्य है।

सत्संग से मनुष्य के हाथ में गुण वृद्धि के बाहरी साधन आया करते हैं। भीतरी साधनों के प्राप्त

आत्म निरीक्षण करने के लिए आत्म-निरीक्षण (Self introspection) का आश्रय लेना पड़ता है। आत्म-निरीक्षण का भाव यह है कि मनुष्य को शान्ति के साथ एकान्त में बैठ कर अपने गुण, दोष, शुभा-शुभ कर्मों और अपनी सुप्रवृत्ति और कुप्रवृत्ति पर विचार करना चाहिए। मनुष्य अपनी बुराइयों को जान कर ही

उन्हें छोड़ा करता है । उनके जानने का साधन यह आत्म-निरीक्षण ही है इसलिए आत्म-निरीक्षण को भी मनुष्य को अपने दैनिक समय-विभाग में स्थान देना चाहिए।

पाँचवाँ अध्याय

पहला सर्ग

प्रारंभ

विद्यार्थी जीवन को श्रेष्ठ बनाने के उद्देश्य से ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन किया जासके इसके लिए विद्यार्थी जीवन का क्रियात्मक रूप, अवस्था भेद से क्या हो, यह वर्णन किया जाता है। पहले अध्याय के अन्तिम सर्ग के अन्त में विद्यार्थी-जीवन के समस्त २४ वर्षों का, चार अवस्थाओं में विभक्त होने का उल्लेख हो चुका है। वे अवस्थायें आयु की दृष्टि से इस प्रकार विभक्त हैं:—

आयु की दृष्टि से अवस्था-भेद

(१) शैशवावस्था १० वर्ष तक (२) बाल्यावस्था ११ से १४ वर्ष तक (३) किशोरावस्था १४ से १८ वर्ष तक (४) युवावस्था १६ से २४ वर्ष तक। इनमें से शैशवावस्था तीन भागों में विभक्त है (१) पहला भाग २ वर्ष तक (२) दूसरा भाग ३ से ५ वें वर्ष तक और (३) तीसरा भाग ६ से १० वें वर्ष तक।

इनमें से प्रत्येक अवस्था के सम्बन्ध में माता, पिता आदि और स्वयं विद्यार्थी के क्या क्या कर्तव्य हैं, इनका विवरण के साथ आगे के पृष्ठों में वर्णन किया गया है। व्यायाम और आसन क्या क्या और किस-किस आयु में करने चाहियें इनके सम्बन्ध में योग्य डाक्टरों और विशेषज्ञों से भी सलाह ले ली गई है। जो बात अपनी अनुभूत न हो अथवा जिसके सम्बन्ध में विशेषज्ञों से सम्मति प्राप्त न करा ली गई हो, ऐसी किसी बात का उल्लेख इस प्रकरण में नहीं किया गया है। इन प्रारम्भिक शब्दों के साथ क्रियात्मक शिक्षा का प्रारम्भ किया जाता है :—

दूसरा सर्ग

शैशवावस्था

पहला भाग दो वर्ष तक

बच्चे को अधिकतर पालने में, पलंग पर या भूमि पर बिस्तरा बिछा कर स्वच्छ वायु में रखना चाहिए; जिससे उन्हें हाथ-पाँव फेंकने की स्वतन्त्रता प्राप्त रहे। कम से कम समय गोद में रखना चाहिए। गोद में रखने से बालक बंधन में रहते हैं और हाथ-पाँव नहीं फेंक सकते। जो बच्चे अधिकतर गोद में रक्खे जाते हैं वे निर्बल हो जाते हैं। उनका शरीर दुबला-पतला हो जाता है और उन्हें कोई न कोई रोग घेरे ही रहता है।

(२) उन्हें किसी हालत में डराना धमकाना नहीं चाहिए अपि तु भरसक यत्न करना चाहिए कि वे सदैव प्रसन्न और हँसते रहें।

(३) बच्चों के खिलाने आदि से बचने के लिए कई फूहड़ मातायें उन्हें अफ़ीम खिलाने लगती हैं जिससे वे अधिक समय तक सोते रहें; परन्तु यह प्रथा अत्यन्त हानिकारक है। इससे बच्चे दुर्बल हो जाते हैं और इसी कारण वे समय से पहले मर भी जाते हैं।

(४) इन बच्चों के सामने किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं होने देना चाहिए जिससे उनके भीतर बुरे संस्कार उत्पन्न न होने पावें।

दूसरा भाग—३ से ५ तक

(क) मानसिकोन्नति के लिए क्या करना चाहिए ?

१. जिज्ञासा;—इस अवस्था में मानसिकोन्नति के लिए चार द्वार खुलते हैं। बालक में ज्ञान प्राप्ति की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है और इसी प्यास के बुझाने के लिए, वह जो भी चीज़ देखता है उसके सम्बन्ध में, अनेक प्रकार के सम्भव और असम्भव प्रश्न किया करता है। माता पिता अथवा जो भी संरक्षक ऐसे बालकों का हो उसका

कर्तव्य है कि वह बालक के प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देकर उसे सन्तुष्ट करता रहे जिससे उन्नति का यह द्वार उसके लिये बराबर खुला रहे और इस अंश में उसकी उन्नति होती रहे। यदि किसी समय बालक के प्रश्नों के उत्तर देने का अवकाश न हो तो बालक से यही कह कर वादा कर लेना चाहिए कि किसी दूसरे समय उत्तर दिया जायगा। परन्तु किसी हालत में भी उसको डाँट-डपटकर चुप नहीं कराना चाहिए। डरा धमका कर बालक को चुप कराते रहने का कुफल यह होता है कि उसकी जिज्ञासा का द्वार बन्द हो जाता है और उसके साथ ही ज्ञान और बुद्धि के विकास की चाल भी धीमी पड़ जाती है।

२. कल्पना—बालक में किस्से कहानी सुनने की इच्छा की उत्पत्ति के साथ ही कल्पना की उत्पत्ति होती है। इस भावना को जागृत करने और उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि माता-पिता उन्हें छोटी छोटी शिक्षा-प्रद कहानी रात्रि में सोने से पहले सुनाते रहा करें। कहानी सुनाने से पहले उनसे कह दिया करें कि सुनाई हुई कहानी दूसरे दिन उन्हें (बालकों को) सुनानी पड़ेगी जिससे कहानी के याद करने में उनकी रुचि बढ़ जाय।

अनुकरण-शीलता—इस शक्ति के भी प्रादुर्भूत होने का यही समय है। अपने सहवासियों को वालक जो भी करते देखता है वैसा ही काम स्वयं करने लगता है। माता-पिता को सन्ध्या करते देखकर वालक भी पालथी मार और आँखें वन्द करके वैठ जाता है। कई पुत्रियाँ माता को भोजन वनाते देख कर, अपने खेलने के खिलौनों अथवा ईंट-पत्थरों से चौका चूल्हा वना कर भोजन वनाने लगती हैं। एक वैद्य का वालक नब्ज़ देखने की नक़ल करना शुरू कर देता है इत्यादि। यह शक्ति वालकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो, इसके लिए वालक के पास रहने वाले, माता पिता आदिकों को आदर्श चरित्र वाला होना चाहिए। उन्हें किसी हालत में भी वच्चों के सम्मुख सिग्रेट, आदि दुर्व्यसनों का सेवन नहीं करना चाहिये, न झूँठ वोलना चाहिए, न उनके साथ कोई असद् व्यवहार करना चाहिए जिससे वालकों को कोई वुराई नक़ल करने को न मिल सके।

४. अभिवादन-शीलता—इसी आयु में, माता-पिता आदि माननीय स्त्री-पुरुषों की वात मानने और उनका मान करने की योग्यता भी, वालकों में आ जाती है। माता-पिता आदि को चाहिए कि वालकों पर न्यून से न्यून शासन रक्खें और जिन वातों को वालकों से मनवाना चाहिए वे अधिक

से अधिक नहीं होनी चाहिएं जिससे बालकों में नम्रता और विनय शीलता तो बनी रहे परन्तु दासता न आने पावे।

५. धर्म शिक्षा—"मैं सदैव सत्य बोलूँगा और निर्भीक रहूँगा" ये शब्द बालक को उठते-बैठते, सोते-जागते सदैव याद रखने चाहिए और ईश्वर से प्रतिदिन प्रार्थना करनी चाहिए कि उसका यह व्रत भंग न हो।

६. मौखिक शिक्षा—इतिहास, भूगोल और गणित की प्रारम्भिक बातें जबानी ही सिखलानी चाहियें जिससे बुद्धि का विकास हो और दृष्टि-कोण में विशालता आवे।

(ख) शारीरिकोन्नति के लिए क्या करना चाहिए ?

(१) दौड़—एक फ़रलांग से शुरू करके क्रमशः ४ फ़रलांग तक बढ़ा लेनी चाहिए—

नोट—दौड़ का अभ्यास करते हुए कतिपय बातों का ख़याल रखना चाहिए:—

(क) यथासंभव नंगे पाँव दौड़ना चाहिए अन्यथा पांव का स्वाभाविक विकास न हो सकेगा और पांव उठाकर दौड़ना चाहिए।

(ख) मुंह बन्द रखना चाहिए, श्वास सदैव नाक ही से लेना चाहिए। मुंह से श्वास लेने से फेफड़े को हानि पहुँचती है।

(ग) मुट्ठी बाँध कर दोनों हाथों को छाती के बराबर रखना और छाती को सामने तना हुआ रखना चाहिए और आखें भी सामने ही रखनी चाहियें।

(२) खेल—कबड्डी आदि दौड़ से सम्बद्ध खेलों का खेलना उपयोगी होता है।

तीसरा भाग—छठे से लेकर दसवें वर्ष तक

(क) मानसिक उन्नति

१. ज्ञान-पिपासा—इस आयु में बालक को प्रत्येक बात के पूछने की जरूरत नहीं रहती। अब वह थोड़ा बहुत जान चुका होता है अब उसके अन्दर रुचि उत्पन्न होती है कि अधिक से अधिक ज्ञान संग्रह करे और इसी लिये उसे इच्छा होने लगती है कि वह भी स्कूल या पाठशाला में जावे और पुस्तकों का अध्ययन करके तरह तरह की मालूमात हासिल करे। यही समय था जिसमें पुराने जमाने में बालक गुरुकुलों को भेज दिये जाते थे जहां उनकी ज्ञान-पिपासा-शक्ति का इस प्रकार विकास होता था जिससे वे ठीक सत्य-पथगामी हो जा।

अब भी वर्तमान परिस्थिति के अनुसार, पुरातन पद्धति में उचित फेर-फार करके यत्न करना चाहिये कि बालक उसी उद्देश को प्राप्त कर लेवें; चाहे उनके चलने का मार्ग दूसरा ही क्यों न हो।

२. **विवेक शक्ति का उदय**—भी इसी अवस्था में होता और बालक खेल और काम में तमीज़ करने लगता है। इस अवस्था में बालक को अच्छी तरह बतला देना चाहिये कि उसके खेल और काम का समय-विभाग क्या है ? और यह भी भली भाँति ज़हन-नशीन करा देना चाहिये कि उसका लाभ इसी में है कि वह खेल के समय में खेले और काम के समय में काम करे।

३. **अनुकरण-शीलता**—यह शक्ति दूसरे भाग ही से आती है। अवश्य उसका रूप कुछ उन्नत होता है। इस अवस्था में भी उसके सहवासी (माता-पिता और गुरु) आदि आदर्श चरित्र वाले होने चाहियें जिससे बालक को कोई कुचरित्र अनुकरण करने को न मिल सके१।

(१) यह दुःख की बात है कि पश्चिमी सभ्यता ने इस ऊँचे आदर्श की अवहेलना की है। इस समय के गुरुओं ने शिष्य के लिए आदर्श यह बनाया है कि "Do what I say don't do what I do" अर्थात् "तुम करो जो मैं कहता हूँ वह मत करो जो मैं करता हूँ"— परन्तु याद रखना चाहिये कि यह आदेश अस्वाभाविक है, अनुकरण-शीलता बालकों का स्वाभाविक गुण है।

४. नियन्त्रण स्वीकार करने की योग्यता का प्रादुर्भाव इसी अवस्था में होता है। और बालक बड़ों के आदेश से कुछ देर जम कर काम करने लगता है। यह अवस्था बड़ी सावधानी के साथ शिक्षा देने की है। नियन्त्रण की शिक्षा और स्वयं नियन्त्रण ऐसा होना चाहिए जिससे बालकों में स्वतन्त्रता का प्रेम तो उत्पन्न हो परन्तु वे उच्छृंखल न होने पावें और न उन में दासता आने पावे।

५. धर्म-शिक्षा—दो बातें सदैव याद रखने योग्य हैं

१—मैं सदैव सत्य बोलूंगा और निर्भीक रहूँगा

२—यह सत्य-वादिता और निर्भीक ईश्वर पर विश्वास रखने से प्राप्त होती है।

६. मौखिक शिक्षा—इतिहास, भूगोल और गणित की दूसरी अवस्था के बाद की ऐसी शिक्षायें जो मौखिक बतलाई और समझाई जा सकें।

(ख) शारीरिक-उन्नति

१. दौड़—पूर्व वर्णित नियमानुसार एक मील तक दौड़ने का अभ्यास ४ फ़रलांग के बाद बढ़ाना चाहिए।

दौड़ने से फेफड़े पुष्ट होते हैं, हृदय दृढ़ होता है और मनुष्य में चुस्ती तथा कर्मण्यता (Activity) आती है।

२. आसन—दो आसन, जिनका विवरण नीचे दिया जाता है, आधे मिनट से शुरू करके प्रति दो सप्ताह आधा आधा मिनट बढ़ा कर तीन मिनट तक करना काफ़ी होगा। ये आसन छटे वर्ष के प्रारम्भ ही से शुरू कराये जा सकते हैं।

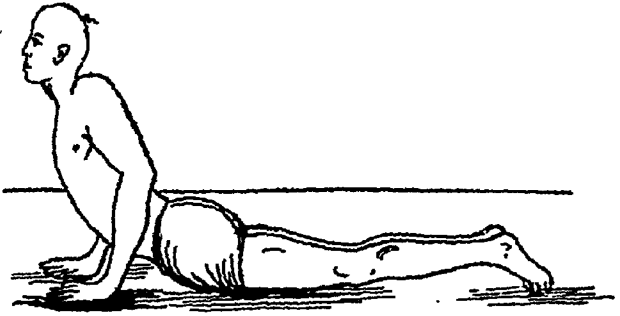
भुजंगासन—पट लेट कर पांव से कमर तक भूमि से लगा रहने दो। नाभि के समीप दोनों हाथों की हथेली भूमि पर टेक कर छाती से शिर तक का भाग उसी प्रकार से उठा लो जैसे सांप अपना फन उठाता है।

इस आसन से जठराग्नि तीव्र और मन्दाग्नि से सम्बद्ध सभी रोग दूर होकर भूख अच्छी लगने लगती है।

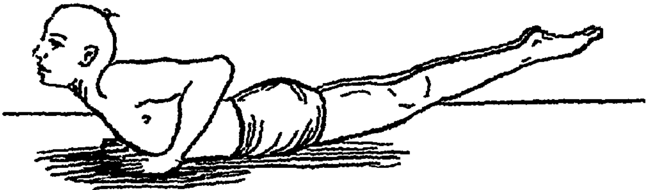
शलभासन—"शलभ" टिड्डी (Locust) को कहते हैं। उसी के समान आकार बना लेना इस आसन का उद्देश है।

भूमि पर पेट के बल लेट कर नाभि के दोनों ओर हाथों को हथेली के बल रख कर नाभि के नीचे ऊपर (पाँव और शिर की ओर) चार चार अंगुल शरीर का भाग पृथिवी पर रख कर छाती, शिर और पांव ऊपर उठालो।

इस आसन से जांघ, पेट, बाहु अ पुष्टदि होते हैं।



(भुजंगासन)



(शलभासन)

तीसरा सर्ग

किशोर अवस्था

(११ से १४ वें वर्ष पर्यन्त)

शैशवावस्था के तीनों भागों को व्यतीत करके अब बालक विद्यार्थी जीवन के दूसरे भाग किशोर-अवस्था में प्रवेश करता है। इसमें वह किस प्रकार आगे बढ़े इसका विवरण नीचे दिया जाता है—

(क) मानसिक-उन्नति

१. आत्म-सम्मान की ओर प्रवृत्ति उद्बुद्ध होती है और इस उद्बोधन का फल यह होता है कि माता, पिता और गुरु की अनुचित घुड़की अथवा मारपीट असह्य प्रतीत होने लगती है और वह, इनके सहने को, लगभग अपमान समझने लगता है इसलिए आवश्यक है कि माता पिता आदि, बड़े बालक के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अपना दृष्टि कोण बदल लेवें और इस बात का पूरा पूरा ध्यान रक्खें कि उनके किसी व्यवहार से बालक अपने को अपमानित न अनुभव करे। जो अल्पबुद्धि माता-पिता आदि इस अवस्था वाले बालक को उचित, अनुचित सभी रीति से डराया धमकाया और अपमानित किया करते हैं और बालक, दुःखी हृदय ही से क्यों न हो, उन्हें बार बार सहा

करता है तो उसके दो फल होते हैं:—

(१) बालक निर्लज्ज हो जाता है

(२) बड़ी हानि यह होती है कि आत्म-सम्मान की ओर प्रवृत्ति अविकसित रह जाती है और बालक उस उच्च साहस से सदा के लिए वंचित हो जाता है जो मनुष्य को अपमान सहने की अपेक्षा मर जाने को सुगम बना दिया करता है[१]।

इस सम्बन्ध में बालकों को भी एक बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिये और वह यह है कि आत्म-सम्मान प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ करता है। एक अपने मान की रक्षा करना दूसरे अपने को ऐसा बनाना जिससे उसके भीतर से उसके लिए सम्मान की भावना उत्पन्न हो। इसका एक उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है। कल्पना करो कि एक व्यक्ति ने बड़ी चतुरता से, जिससे कोई जान न सके, किसी दूसरे व्यक्ति की कोई चीज़ चुराली। यद्यपि कोई दूसरा मनुष्य इस दुष्कृत्य से जानकार नहीं, पहला व्यक्ति स्वयं तो जानता है कि उसने चोरी की है। उसके भीतर यह भावना मौजूद है कि वह चोर है। इसलिए स्वयं उसके भीतर उसका मान नहीं है, इससे साफ़ ज़ाहिर है कि—

(१) विद्वानों ने अनुभव किया है कि अत्याचार करने वाले की अपेक्षा अत्याचार को सहने वाला अधिक पापी होता है क्योंकि अत्याचार सहने ही से अत्याचार करने वालों की संख्या-वृद्धि होती है। इसलिए कभी किसी का अत्याचार सह कर अपने को पापी नहीं बनाना चाहिए।

वह व्यक्ति चोरी करने से आत्म-सम्मान से वंचित हो गया। इसलिए आवश्यक है कि अन्यों से अपने मान की रक्षा का विचार उसी समय सार्थक हो सकता है जब पहले यत्न करके, बुराई और अवगुणों से अपने को बचाते हुए, मनुष्य अपने भीतर अपने लिए सम्मान की भावना पैदा कर ले।

२. अनुभव करके मानने की इच्छा का विकास भी इसी अवस्था में होता है। बालकों में स्वतः प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जिससे उनसे जो बात भी कही जाय उसे स्वीकार करने के पूर्व उसे देखने या किसी दूसरे प्रकार से अनुभव करने की, वे इच्छा करने लगते हैं। इसी इच्छा के विकास के साथ ही तर्क करके मानने की भावना भी उत्पन्न होती है जिसका अधिक विकास रेखा-गणित और न्याय (तर्क) शास्त्र (Logic) पढ़ने से होता है। बालकों को देख कर या तर्क करके मानने का अभ्यास, यत्न करके बढ़ाना चाहिए। इससे वे सदैव असम्भव बातों के मानने और अंध विश्वास से बचे रहेंगे।

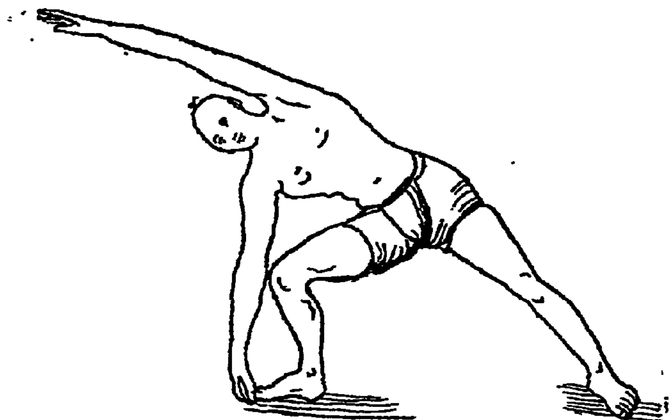
३. सूक्ष्म बातों के समझने की योग्यता— इस अवस्था वाले बालकों में सूक्ष्म विषयों के समझने की भी इच्छा उत्पन्न होने लगती है। गणित, रेखा-गणित के प्रश्नों के हल करने तथा ऐसे ही अन्य विषयों के सोचने से, जिनमें बुद्धि को लगाना पड़े, यह योग्यता बढ़ती है। विद्यार्थी को इस योग्यता के बढ़ाने का भरसक यत्न करना चाहिए।

४. शरीर को पुष्ट करने की इच्छा—विद्यार्थी में इस अवस्था में, अपने शरीर को पुष्ट करने की भी इच्छा उत्पन्न होती है। इसके लिए उसे व्यायामादि के सिवा ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इस प्रकरण में ब्रह्मचर्य का भाव यह है कि शरीर में जो रक्त (वीर्य) उत्पन्न हो वह किसी प्रकार से नष्ट न होने पावे। तख्त पर सोने, गुदगुदे बिस्तर पर न सोने, खड़ाऊँ पहनने, खटाई, लाल मिर्च, तम्बाकू तथा दूसरे नशों के सेवन न करने और कुसंगति से बचने से ब्रह्मचर्य का पालन और वीर्य की रक्षा होती है।

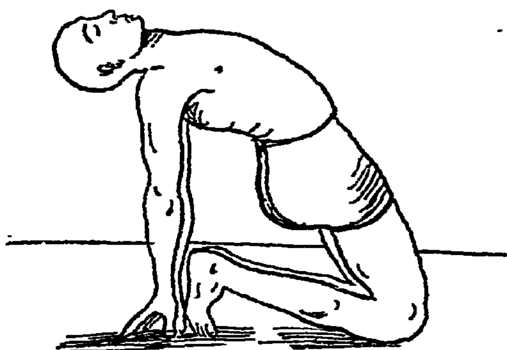
चेतावनी

विद्यार्थी को समझ लेना चाहिए कि बालकों की अवस्था १३ से १७ वें वर्ष की आयु तक ऐसी होती है कि वे सरलता के बाहुल्य और बुद्धि की अपरिपक्वता के प्राचुर्य से, सुगमता से बहकाये जा सकते हैं, इसलिए उसे दृढ़ता के साथ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये:—

(१) माता-पिता आदि जो उसके संरक्षक हैं उनके सिवा कभी किसी भी व्यक्ति की दी हुई कोई चीज़, चाहे वह खाने पीने की हो अथवा अन्य प्रकार की, किसी हालत में भी ग्रहण नहीं करेगा।



(कोनासन्)



(धनुरासन)

(२) किसी हालत में भी माता-पिता आदि के सिवा, किसी व्यक्ति के साथ, चाहे वह विद्यार्थी, अध्यापक अथवा कोई अन्य पुरुष हो, कभी एकान्त-सेवन न करेगा, न किसी के बहकाने, फुसलाने में आकर उनके साथ सैर करने या सिनेमा, थियेटर आदि देखने के लिए कभी जायगा।

[३] किसी के प्रलोभन आदि में आकर कभी कोई ऐसा काम, जैसे हस्तमैथुन आदि कदापि न करेगा।

(ख) शारीरिक उन्नति

१. **कोनासन**—ड्रिल के लिये जिस प्रकार खड़े होते हैं चुस्ती से तन कर खड़े हो जाओ। हाथों को ऊपर की ओर सीधा खड़ा करलो। सिर का पिछला भाग, पीठ और पाँव की एड़ी एक सीध में हों। एक पांव को सीधा रहने दो। दूसरे पाँव को घुटने से मोड़ कर उसी ओर के हाथ से मुड़े हुए पाँव के अंगूठे का स्पर्श करो। जिधर का पाँव सीधा है उस ओर के हाथ को पूर्ववत् ऊपर की ओर पाँव की सीध में रहने दो। खड़े हाथ को जब अंगूठे का स्पर्श करने के लिए लाओ तो उसे सीधा, बिना मोड़े हुए धीरे धीरे बहुत मन्द गति से लाओ। सीधे और मुड़े हुए पाँव का अन्तर अपने हाथ से लगभग दो हाथ रक्खो। ३ सैकिंड इस स्थिति में रह कर पूर्ववत् ऊपर हाथ खड़े किये हुए हो जाओ और अब

दूसरे पाँव को मोड़ कर उसके अंगूठे को उसी ओर के हाथ से स्पर्श करो। बाकी शरीर की स्थिति पूर्ववत् रहने दो और इस दूसरी स्थिति में भी ३ सेकिंड रह कर आसन समाप्त कर दो। प्रारम्भ ३ सेकिंड से करके दो सेकिंड प्रतिमास के हिसाब से बढ़ा कर एक मिनट तक पहुंचा लो। यदि पहली स्थिति समाप्त करने पर थकान मालूम हो तो एक दो मिनट विश्राम करके दूसरी स्थिति में आओ।

इस आसन से पेट, पीठ और बगल के स्नायुओं को स्वस्थ और निर्दोष रहने में सहायता मिलती है और यदि उनमें कुछ विकार हो तो दूर हो जाता है।

२. धनुरासन—भूमि पर पट लेट कर अपने हाथों से दृढ़ता से पाँवों की एड़ियों को नीचे से पकड़ लो। इस प्रकार कि नाभि के इधर उधर चार चार अंगुल शरीर का भाग भूमि पर रहे और बाक़ी सारा शरीर भूमि से कुछ ऊँचा हो जाय। हाथ पाँव की एड़ियों को अपनी ओर अच्छी तरह खींचें और पाँव अपनी ओर तनाव रक्खें। इस प्रकार दोनों ओर की खिंची हुई स्थिति का नाम धनुरासन है। इसी को सुप्त उष्ट्रासन भी कहते हैं।

यह आसन प्रायः सभी अंगों के लिये हितकर है। विशेषकर पेट के लिये बहुत लाभदायक है। यह आसन आरम्भ में १०

सैकिंड प्रतिवार के हिसाब से तीन बार करना चाहिए और प्रति-मास एक २ की वृद्धि कर के सात वार तक पहुँचाना चाहिए।

३. दौड़—एक मील तक की दौड़ का अभ्यास पूर्ववत् जारी रखना चाहिए।

(ग) धर्म-शिक्षा

(१) मैं सदैव सत्याचरण करूँगा और निर्भीक रहूँगा।

(२) मैं सदैव आस्तिकता (ईश्वर विश्वास) का जीवन व्यतीत करूँगा।

(३) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

(४) वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना मनुष्य मात्र का धर्म है।

चौथा सर्ग

कुमार अवस्था

(१५वें से १८ वें वर्ष पर्यन्त)

अब विद्यार्थी, विद्यार्थी-जीवन की तीसरी कुमार अवस्था के द्वार पर पहुंच गया है। किस प्रकार इस द्वार में प्रवेश करे जिससे, वह अवस्था-रूप गृह, सुखप्रद हो: और प्रवेश कर आत्म-सम्मान का जीवन व्यतीत कर

सके। उसी "प्रकार" का विवरण दिया जाता है। उस विवरण के देने से पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि इस अवस्था में शरीर के सभी अङ्गों की पूर्त्ति हो जाती है। लड़के और लड़कियों की आवाज़ में यहीं से भेद शुरू हो जाता है और बालक की प्रवृत्ति स्वभावतः शृंगार रस की ओर होती है। उसे इसी रस में सने हुये गीत अच्छे लगने लगते हैं। ऐसी ही पुस्तकों की वह खोज करता है। ऐसे ही सिनेमा, थियेटर आदिकों के देखने की रुचि उसमें उत्पन्न होती है। इसीलिए अनेक अनुभवी विद्वान् इस अवस्था को "भयंकर तूफ़ान के सदृश" कहा करते हैं। यही अवस्था है जिसे उचित रीति से, मनुष्य के बनने और बिगड़ने का समय कहा जाता है; इसलिये विद्यार्थी को अधिक से अधिक सावधानता से इस अवस्था को व्यतीत करना चाहिए और माता-पिता और अध्यापक का कर्त्तव्य है कि अत्यन्त प्रेम के साथ इस अवस्था वाले युवकों का नियन्त्रण करें। अस्तु अब अपेक्षित विवरण दिया जाता है।

(क) मानसिक-उन्नति

१. उत्कृष्ट मानसिक व्यापार की ओर रुचि और विवेक-वृद्धि—

इस अवस्था में विवेक की वृद्धि होने से विद्यार्थी की अभिरुचि

होती है कि अच्छी अच्छी मनन करने योग्य बातें उसे बतलाई जावें जिनमें उसे भले प्रकार बुद्धि बल व्यय करना पड़े। इस रुचि की पूर्ति के लिए स्कूल और दोनों जगह सामान मिलना चाहिए। स्कूल में तो गणित, विज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्रादि ऐसे विषय हो सकते हैं जिनमें से यथारुचि किसी विषय की उसे शिक्षा मिले और घर में ऐसे धार्मिक ग्रन्थ उसे देखने को दिये जाने चाहियें जिससे वह मनुष्य जीवन के उच्चतम उद्देश को समझने का श्रीगणेश कर सके और उसे आत्मा और परमात्मा का प्रारम्भिक ज्ञान हो जावे[1]। स्वयमेव विद्यार्थियों को इसी प्रकार का आचरण अपनी ओर से भी करना चाहिए, चाहे माता पिता उनके लिए ऐसा प्रवन्ध करें या न करें[2]।

२. साहस और उच्चाकांक्षा की वृद्धि—शक्ति के बाहुल्य से इस अवस्था के नवयुवकों में, यह इच्छा भी प्रबल रूप धारण करके उत्पन्न होती है कि वे बड़े से बड़े साहसी वीर बनें और संसार में उच्च से उच्च दरजा प्राप्त कर सकें। इस

(१) अमरीका तथा योरुपादि देशों में जो आत्महत्या अधिक संख्या में होती है उसका कारण उच्चतम जीवनोद्देश से अनभिज्ञता ही है जैसा कि समय समय पर वहां के विद्वान् स्वीकार करते रहते हैं।

(२) वे धार्मिक ग्रन्थ ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश के ७; ८ व ९ वें समुल्लास अथवा ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका के उपासना प्रकरण के सदृश होने चाहियें।

इच्छा की पूर्ति के लिए उन्हें दो प्रकार के यत्नों का आश्रय लेना चाहिए।

(१) वीर और साहसी महानुभावों के जीवन-चरित्र पढ़ने चाहियें जैसे राम, कृष्ण, हनुमान, भीष्म, अर्जुन, अभिमन्यु, चन्द्रगुप्त चाणक्य, विक्रमादित्य, गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, प्रताप, दुर्गादास, संग्रामसिंह। महाराना सांगा, पद्मावती, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, शिवाजी, दयानन्द सरस्वती, नैपोलियन, प्रिंस बिस्मार्क इत्यादि इत्यादि। इन जीवन-चरित्रों में से चरित्र नायकों के विशेष विशेष गुणों को हृदयांकित करके, उन्हें काम में किस प्रकार लाया जाय, इस पर समय समय पर विचार करते रहना चाहिए।

(२) निर्भीक होकर, ऐसे कामों के करने का अभ्यास बनाना चाहिए जो प्रकार की दृष्टि से तो उत्तम और उपयोगी हों परन्तु उनका पूरा करना भय और ख़तरे से ख़ाली न हो। जैसे किसी घर में आग लगी हो और बच्चों तथा स्त्रियों को अपनी प्राण-रक्षा के लिए सहायता अपेक्षित हो तो अगर मगर किये बिना साहस और वीरता के साथ उस अग्नि-संग्राम में कूद कर उन्हें सहायता देनी चाहिए। इसी प्रकार चोर बदमाश, अत्याचारी लोगों का, निर्भीक होकर, मुक़ाबला करना चाहिए इत्यादि।

३. सामाजिक कार्य्यों में भाग लेने की अभिरुचि—

बालकपन की सीमा पार कर लेने से इस अवस्था में नवयुवकों में स्वभावतः व्यक्तिगत कार्यों से आगे बढ़ कर, सामाजिक कार्यों के करने की इच्छा उत्पन्न होती है। वे [सामाजिक] कार्य चाहे धार्मिक हों या समाज के सुधार और सेवा से सम्बन्ध रखते हों। इस इच्छा के पूरा करने के लिए उन्हें

[१] कुमार सभाओं में शरीक होना चाहिये। सभा के अन्य सदस्यों के साथ मिल कर, सभा के निश्चयानुसार, परिश्रम और उत्साह से कार्य करना चाहिए। इससे सामाजिक और धार्मिक दोनों प्रकार के कार्यों के करने का उन्हें अवसर मिलेगा।

[२] अथवा सेवा समितियों में शरीक होकर सेवा का कार्य करना चाहिए। इससे भी उनको एक दरजे तक इच्छा-पूर्ति हो सकती है। इन सभाओं में शरीक होने से, सांसारिक कार्यों के करने में, जो झिझक मनुष्यों में हुआ करती है, निकल जाया करती है और वह बेधड़क होकर अपना सब कार्य करने लगता है।

चेतावनी समाज-सम्बन्धी काम करते हुए, दो बातों को नियम के तौर पर, अपने ध्यान में रखना चाहिए:—

[१] सदैव सत्य के आश्रित होकर काम करना।

[२] मान की कभी इच्छा न करना।

इन दो बातों में से किसी एक अथवा दोनों में जब त्रुटि आती है तभी सामाजिक कार्य बिगड़ा करते हैं।

(ख) शारीरिक उन्नति

इस सम्बन्ध में सबसे प्रथम युवक को प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि २५ वर्ष से पहले किसी अवस्था में भी विवाह न करेगा।

१. व्यायाम

[१] २५ दंड, ५० बैठक।

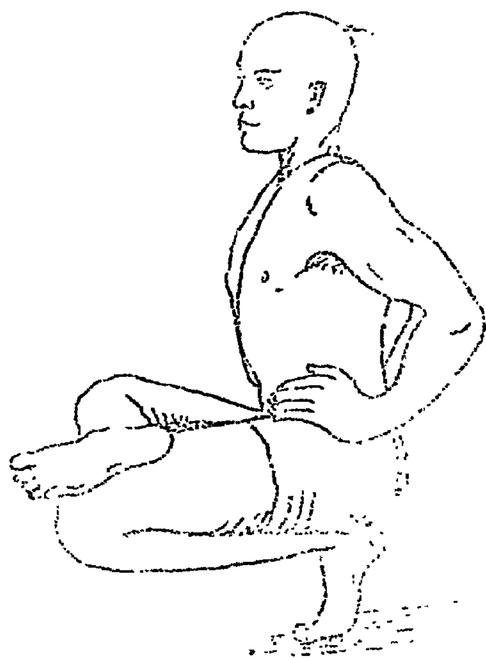
[२] यदि नदी या तालाब समीप हों तो तैरने का अभ्यास करना चाहिए।

नोट—[१] व्यायाम के समय यदि संभव हो तो बड़े आइने को सामने रखना, जिससे दंड बैठक करते हुए अपने को देखा जा सके, उपयोगी होता है।

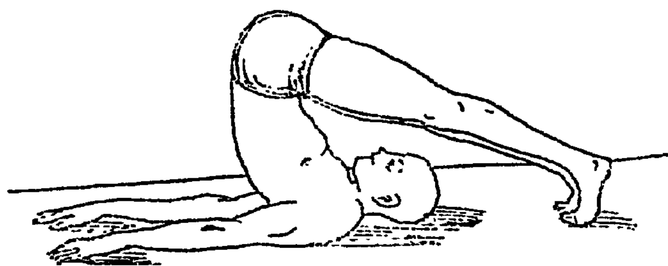
[२] व्यायाम के बाद कुछ टहलना तथा पेशाब कर लेना अच्छा होता है।

२. आसन

१. पादांगुष्ठासन—एक पांव की एड़ी को गुदा और अंडकोश के बीच के शरीर-भाग से लगा कर सारे शरीर का भार उसी पर रख कर बैठो। दूसरे पाँव को पहले पाँव



(मार्तंडासन)



(सर्वांगासन)

के घुटने पर रखो। प्रारम्भ में सहारे के लिये एक हाथ दीवार या कुरसी पर रख सकते हो परन्तु यदि यह सहारा लिया जावे तो शीघ्र से शीघ्र छोड़ना चाहिए।

गुदा, और अंडकोश के बीच में लगभग ४ अंगुल चौड़ा स्थान होता है। वही स्थान वीर्य्य-सम्बन्धी नाड़ियों का है, उन्हें रक्खी हुई एड़ी से दबाने से वीर्य्य की अधोगति (बाहर निकलना) बंद हो जाती है इसीलिए यह आसन ब्रह्मचर्य्य का साधक है। यह आसन एक मिनट से प्रारम्भ करके १/२ मिनट प्रति सप्ताह बढ़ाकर ५ मिनट तक ले जाना काफी होगा।

नोट—स्त्रियों को यह आसन नहीं करना चाहिए। गृहस्थ पुरुषों को भी खास सूरतों में कभी कभी करना चाहिये अन्यथा नहीं।

२. सर्वाङ्गासन—भूमि पर चित लेट जाओ। दोनों पैरों को उठा कर सिर के पीछे ज़मीन पर लगाओ। पावों की अंगुलियां और अंगूठे ही भूमि पर लगने चाहिएं और पांव घुटनों समेत सीधे रहें। प्रारम्भ में सहारा देने के लिये हाथों को कमर पर रख लो परन्तु स्थिर रीति से उन्हें भूमि ही पर रहना चाहिए। यह आसन ½ मिनट से शुरू करके प्रतिसप्ताह १/२ मिनट की वृद्धि करते हुए ३ मिनट तक बढ़ा लेना चहिये। इस आसन से पेट के दोष दूर होकर अच्छी भूख लगती है। यकृत और प्लीहा भी निर्दोष रहते हैं

३. शीर्षासन—सिर के नीचे कोई गुदगुदी वस्तु रख कर उस पर सिर रक्खो और दोनों हाथ सिर के दोनों ओर रक्खो और सिर के बल समस्त शरीर के भार को रख कर पाँव ऊपर करके उलटे खड़े हो जाओ।

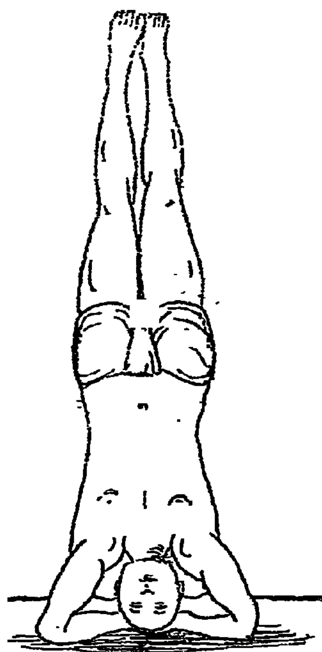
प्रारंभ में दीवार का सहारा पैरों को दे सकते हो अथवा किसी दूसरे व्यक्ति की सहायता लेकर कर सकते हो। एक सप्ताह के बाद स्वयं स्वतन्त्रता से करने लगोगे। यह आसन १/४ मिनट से शुरू करके दूसरे सप्ताह ½ मिनट कर दो। उसके बाद प्रति दो सप्ताह १/२ मिनट बढ़ा कर ५ मिनट तक ले जाना काफी है।

इस आसन से मस्तिष्क पुष्ट होता है वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। स्मृति बढ़ता है। थकावट मालूम होने पर प्रत्येक आसन अवधि से पहले समाप्त कर दिया जावे।

(ग) प्राणायाम

१. पूरक (श्वास भीतर भरना)—पहले केवल पूरक (श्वास अन्दर भरने) का अभ्यास करना चाहिए।

विधि—दोनों पैरों के बीच में एक पैर के बराबर फ़ासिला रख कर तन कर खड़े हो जाओ। दृष्टि सामने रक्खो। दोनों हाथों को पीछे ले जाकर पीठ पर एक को दूसरे से पकड़ रक्खो। नाक से आहिस्ते-आहिस्ते श्वास भीतर ले जाओ। श्वास लेने



(शीर्षासन)

के साथ साथ ही दोनों पाँव की एड़ियों को ऊपर उठाते जाओ। इस प्रकार श्वास को भीतर रोक कर एड़ियों के बल खड़े रहो। कभी कभी अपने दोनों कंधों को उठा कर नीचे छोड़ते रहो। जब श्वास भीतर न रुक सके तो आहिस्ते-आहिस्ते एड़ी नीचे करते हुए उसे इस प्रकार बाहर निकालो कि पूरा श्वास निकलने के साथ ही एड़ी भूमि से लग जावे। इस अभ्यास को इतना दुहराओ तिहराओ कि श्वास फूलने लगे। तब इस अभ्यास को समाप्त कर दो। यह अभ्यास पूरा हो जाने पर रेचक करो।

२. रेचक (श्वास बाहर निकालने) का अभ्यास

विधि—दोनों पैरों को फैला कर जमीन पर बैठ जाओ। दोनों हाथों से दोनों पावों के अंगूठे पकड़ कर श्वास को नाक से शीघ्रता के साथ निकाल दो। फिर धीरे धीरे अपने सिर को घुटनों की ओर झुकाओ और यत्न करो कि सिर घुटनों को छू जावे। घुटनों से सिर छू जाने पर पीछे हटा कर असली हालत में करलो और फिर उसे घुटनों से छुलाओ और छुला कर फिर पूर्ववत् कर लो। इस प्रकार कई बार करो, जब बिना श्वास लिये न रह सको तो धीरे धीरे श्वास ले लो। यह रेचक की एक क्रिया हुई। इस क्रिया को कई बार करो जिससे श्वास निकालने (रेचक) का अच्छा अभ्यास हो जावे।

(घ) धार्मिक शिक्षा

(१) मैं सदैव सत्याचरण करूंगा और निर्भीक रहूँगा।

(२) ईश्वरोपासना गुण वृद्धि का सर्वश्रेष्ठ साधन है। मैं इस साधन से अपने को अधिक गुणवान् बनाऊंगा।

(३) ईश्वर के नामों के सार्थक जप से, गुण-वृद्धि द्वारा उपासना की सिद्धि होती है। मै उसकी सिद्धि का निरन्तर यत्न करूंगा।

(४) मैं वेद उपनिषदादि सद्ग्रन्थों और गीता के अच्छे अच्छे प्रकरणों का नियम से स्वाध्याय करूंगा।

पाँचवाँ सर्ग

युवावस्था—

(१८ से २४ वें वर्ष पर्यन्त)

(क) मानसिक उन्नति

इस अवस्था में पहुँच कर बालक की युवावस्था आकर उसे गंभीर और उत्तरदायित्व को समझने वाला बना देती है और अब वह अपने हानि लाभ को भली भाँति समझने लगता है। इस अवस्था में उसे मानसिक उन्नति के लिये निम्न बातों की ओर विशेष रीति से ध्यान देना चाहिए।

१. स्वाध्यायशीलता—तीन प्रकार के ग्रन्थों का उसे

विशेष रीति से अध्ययन करना चाहिये:—

(१) जो चरित्र-निर्माण में सहायक हों। जिनके पाठ से युवकों में आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास उत्पन्न हो और वृद्धि करे और वे स्वतन्त्रता के प्रेमी बन कर ब्रह्मचर्य्य का सफल जीवन व्यतीत कर सकें।

(२) समय विभाग बना कर एक एक मिनट को उपयोगी कार्य्यों में लगाने की जिनसे रुचि उत्पन्न हो और वृद्धि करे।

(३) भारतीय संस्कृति (Culture) और उनके विस्तार-कर्त्ता ऋषियों के लिये जिनसे प्रेम और आदर का भाव पैदा हो और बढ़ता रहे। उदाहरण के लिये कुछेक ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं:—

(१) ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम दस समुल्लास पूर्ण और ग्यारहवें समुल्लास का प्रारम्भिक, खंडन से पहले का भाग।

(२) ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका स्वामी दयानन्द कृत

(३) (Hindu Superiority by Harbilas Sarda)

(४) अमरीकन विद्वान् मार्डन के सभी ग्रन्थ

(५) शिवाजी, प्रताप, गुरुगोविन्दसिंह, बन्दा वैरागी, दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ, तिलक, गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आदिकों के जीवन-चरित्र।

२. स्वतन्त्रता का विकास—इस आयु में युवकों में स्वतन्त्र होने के भाव पूर्णतया जागृत हो उठते हैं इसलिए उन्हें विकसित होने देने के साथ इस बात का पूर्ण रीति से ध्यान रखना चाहिये कि स्वतन्त्रता के साथ उच्छृङ्खलता उनमें न आने पावे। स्वतन्त्रता और उच्छृङ्खलता के बीच वे (युवक) रेखा खींच सकें, इसमें सहायता देने के लिए दोनों में क्या क्या बातें सम्मिलित हैं यहां लिख दिया जाता है:—

स्वतन्त्रता — इन्द्रियों और मन का बंधनों से मुक्त होना, नियम और सीमा के भीतर रहते हुए शारीरिक, सामाजिक और राजनैतिक बंधनों से मुक्त रहना।

उच्छृंखलता — असंयम, अनियम और बे-लगामपन और डाँवाँडोल रहने को स्वेच्छाचारिता समझना। इन दोनों के अंतरों को समझते हुए यह बात अच्छी तरह से हृदयाङ्कित कर लेनी चाहिये कि बाहर की स्वतन्त्रता प्राप्त होकर उसी हालत में चिरस्थायिनी हो सकती है जब भीतर की स्वतन्त्रता पहले प्राप्त कर ली जाती है।

भीतर की स्वतन्त्रता — इसका भाव यह है कि मनुष्य काम, क्रोध, लोभ और मोह के बंधनों से, कम से कम, उतना अवश्य स्वतन्त्र हो जो उसके चरित्रवान् और यशस्वी होने में बाधा न डाल सकें।

३. सामाजिक उन्नति के विचार भी इस अवस्था में उन्नत अवस्था ग्रहण करना चाहते हैं। उनकी उन्नति की प्रगति वृद्धि प्राप्त करे इसके लिए दो बातें मुख्य रीति से पालनीय हैं:—

(१) सभी प्रकार की सेवा करने की उत्तम भावना हृदय में रखते हुये उन्हें अधिक से अधिक मात्रा में क्रियात्मक रूप देने के लिए सदैव सन्नद्ध रहना चाहिए।

(२) इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जब तक समाज के अन्य सदस्यों की भी उन्नति न हो अकेला कोई उन्नत होकर सुखी नहीं हो सकता। प्रत्येक को प्रत्येक की उन्नति ही में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(ख) धार्मिक शिक्षा

(१) मैं सदैव सत्याचरण करूंगा और निर्भीक रहूँगा।

(२) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार सर्व-शक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है उसी की उपासना करनी चाहिए।

(३) श्रेष्ठ ज्ञान उपलब्ध करके उसके अनुकूल आचरण करूंगा जिससे कि ये ज्ञान और कर्म, मृत्यु-पर्यन्त समस्त बंधनों को दूर करने वाले बनें।

(ग) प्राणायाम

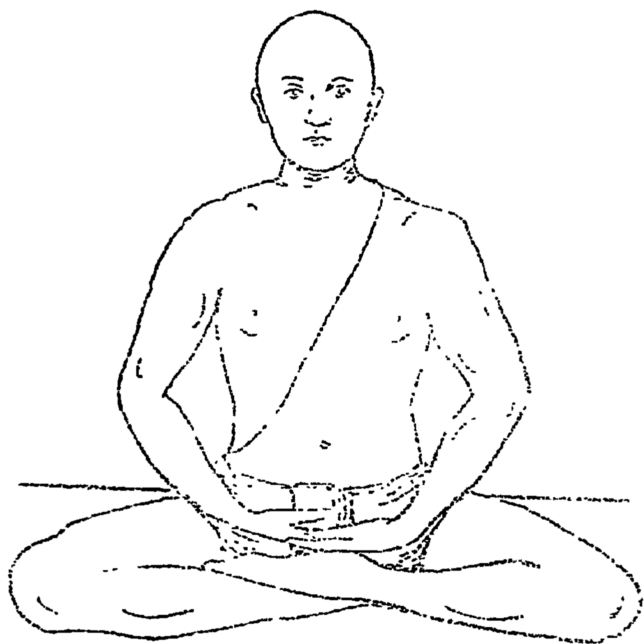
पूरक और रेचक का अभ्यास करने के बाद अब युवकों को प्राणायाम करना चाहिए। जब तक वे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट न हों उस समय तक सिद्ध-आसन से बैठ कर प्राणायाम करना उपयोगी होगा। यदि इस आसन से बैठने में उन्हें कुछ कठिनता हो तो सुखपूर्वक जिस आसन से भी बैठ कर प्राणायाम कर सकें तो करें।

विधि सिद्धासन—बायें पाँव की एड़ी, गुदा और अंड-कोश के बीच के भाग में उस भाग को दबा कर, लगाओ; दाहिने पाँव की एड़ी को मूत्रेंन्द्रिय के ऊपर के भाग से दृढ़ता के साथ मिलाकर रक्खो। ठोढ़ी कंठमूल से थोड़ी दूर छाती के ऊपरी भाग से लगाकर रक्खो; शरीर सीधा और स्थिर रहने दो; दृष्टि भौं के मध्य लगाओ। हाथों को चाहे घुटनों पर रक्खो, चाहे उन्हें मिला कर मध्य में रक्खो।

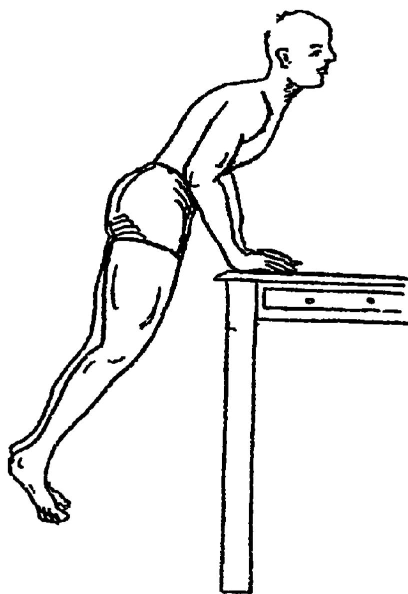
प्राणायाम—(१) मुंह बन्द रखते हुए श्वास धीरे-धीरे नाक से निकालो और फिर श्वास न लो।

(२) जब बिना श्वास लिये और अधिक न रह सको तब धीरे-धीरे श्वास भीतर ले जाओ और अब उसे भीतर ही रोक दो, न और श्वास लो, न निकालो।

(३) जब इस स्थिति में भी न रह सको तब फिर पूर्व-(१)वत् उसे बाहर निकाल दो।



(सिद्धासन)



मयूरासन

यह एक प्राणायाम हुआ। ऐसे ३ प्राणायामों से प्रारंभ कर के प्रति सप्ताह एक के हिसाब से बढ़ा कर २१ तक पहुंचाओ। इससे हृदय और फेफड़े पुष्ट होते हैं। मन की चंचलता दूर होती है और शरीर के अन्य सभी अंगों को लाभ पहुंचता है।

(घ) शारीरिक उन्नति

१. ब्रह्मचर्य का व्रत—२५ वर्ष से पहले विवाह न करने की प्रतिज्ञा दुहरानी चाहिए और उस पर दृढ़ता से अमल करना चाहिए।

२. व्यायाम—(१) २५ दंड और बैठक (यदि संभव हो तो बड़ा आइना सामने रख कर)

(२) तैरने का अभ्यास यदि संभव हो।

(३) आसन

१. मयूरासन—मेज़ अथवा किसी और ऐसी ऊंची चीज़ पर अपने दोनों हाथ इस प्रकार रक्खो कि दोनों हाथों की कुहनियां नाभि प्रदेश से मिली रहें। इन कुहनियों पर शरीर का सारा बोझ रख कर अपने दोनों पाँव भूमि से उठा कर इस प्रकार कर लो जैसे मोर की पूंछ होती है।

इस आसन से पाचन शक्ति बढ़ती है और हाथों में बल की वृद्धि होती है। इसे १० सैकिंड से शुरू करके दो मिनट तक, १५ सैकिंड प्रति सप्ताह बढ़ाते हुये, पहुँचाना चाहिए।

२. सर्वाङ्गासन—विधि कुमारावस्था में वर्णित है। इस अवस्था में इसे ३ मिनट से शुरू करके १/२ मिनट प्रति सप्ताह वृद्धि करते हुए, ६ मिनट तक पहुँचाना चाहिये।

३. शीर्षासन—विधि कुमारावस्था में वर्णित है। इस अवस्था में इसे ५ मिनट से शुरू करके, एक मिनट की प्रति सप्ताह वृद्धि करते हुये, १० मिनट तक पहुँचाना चाहिए।

